संवाद सेतु

मीडिया का आत्मावलोकन

अंक-27 सितम्बर-अक्तूबर 2020 पृष्ठ-28 नई दिल्ली

मूवी माफिया के कब्जे में 'भारतीय मन'

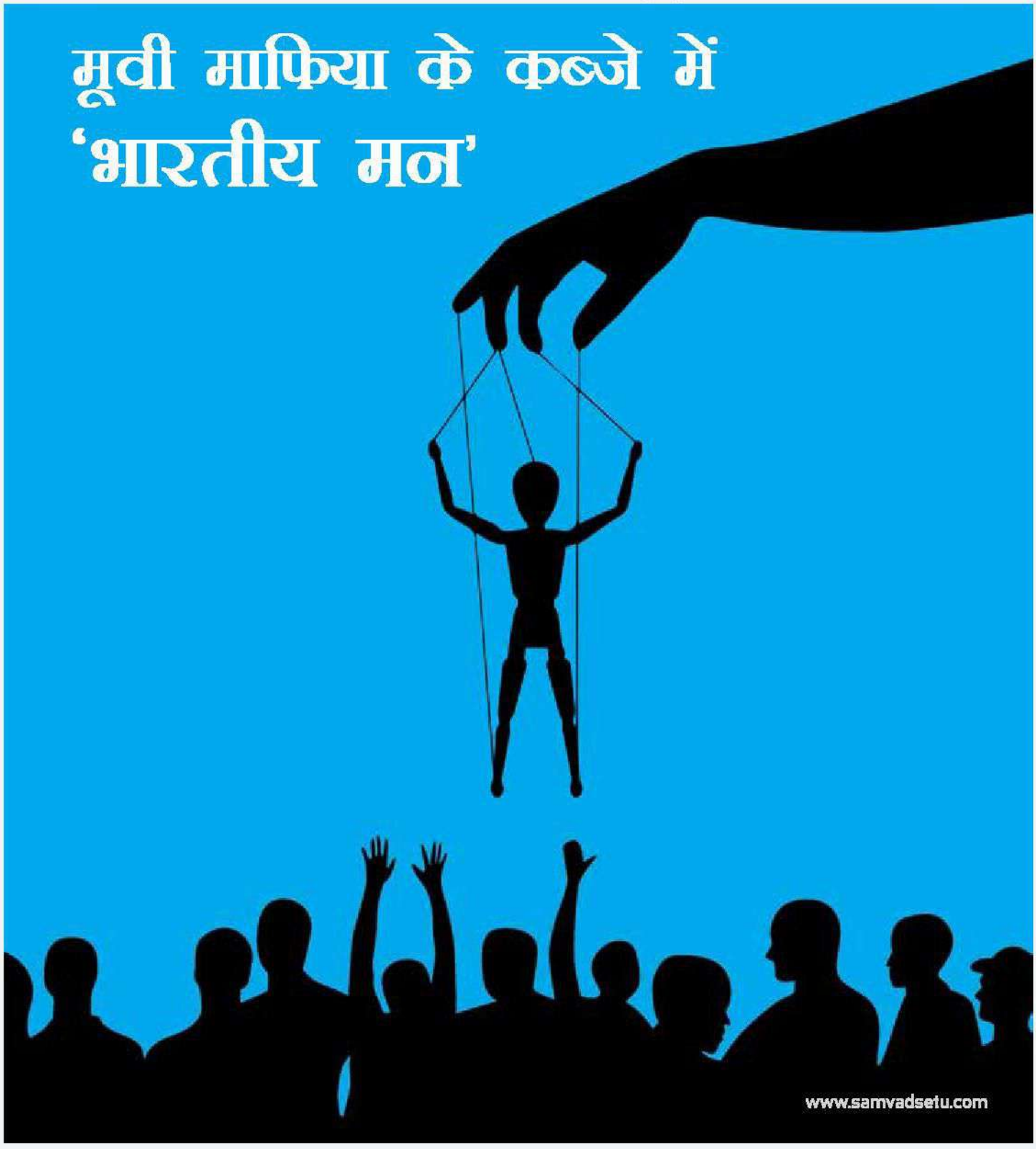

www.samvadsetu.com

मनोगत

संपादक
आशुतोष भटनागर

कार्यकारी – संपादक
डॉ॰ जयप्रकाश सिंह

उप–संपादक
सूर्य प्रकाश
रविन्द्र सिंह भड़वाल

पृष्ठ–सज्जा
राजीव पांडेय

विधिक सलाहकार
सुरजीत नेहरा
अधिवक्ता, उच्चतम न्यायालय

ई–मेल
samvadsetu2011@gmail.com

फेसबुक पेज
@samvadsetu2011

अनुरोध

संवादसेतु की इस पहल पर आपकी टिप्पणी एवं सुझावों का स्वागत है। अपनी टिप्पणी एवं कृपया उपरोक्त ई–मेल पर अवश्य भेजें।
संवादसेतु मीडिया सरोकारों से जुड़े पत्रकारों की रचनात्मक पहल है। संवादसेतु अपने लेखकों तथा विषय की स्पष्टता के लिए इंटरनेट से ली गई सामग्री के रचनाकारों का भी आभार व्यक्त करता है। इसमें सभी पद अवैतनिक है।

घर की बात
जानलेवा बहसों का शोर...
पृष्ठ 4-6

आवरण कथा
मूवी माफिया के कब्जे में 'भारतीय मन'
पृष्ठ 7-10

विमर्श
फिल्मों का कलामूल्य
पृष्ठ 11-15

लोक–संवाद
भारतीय लोक को नकारता बॉलीवुड
पृष्ठ 16-18

शब्दावली
ओटीटी प्लेटफार्म
पृष्ठ 19-21

ग्लोबल मीडिया
हॉलीवुड का सांस्कृतिक-मायालोक
पृष्ठ 22-24

दृश्य–संवाद
मायानगरी के अंधेर में आउटसाइडर्स का एनकाउंटर
पृष्ठ 25-26

पुस्तक–समीक्षा
इतिहास और वर्तमान के भ्रमों की यात्रा है सार्थ
पृष्ठ 27-28

कार्टून/ग्राफिक्स
पृष्ठ 29

सुशांत सिंह राजपूत की मौत से मुंबइया फिल्म जगत में एक उभरता सूरज वक्त से पहले डूब गया। मायालोक का एक हिस्सा अंधेरे में डूब गया। प्रकृति का नियम है कि दूसरे छोर पर तभी सूरज उगता है जब एक छोर अंधेरे में डूब जाए। इसलिये जिन्हें अपने यहां उजाले की चाहत थी उन्होंने सुनिश्चित किया कि विपरीत ध्रुव पर अंधेरा छा जाए। उनकी कोशिशें सफल रहीं।

अंधेरा भी सबके लिये अभिशाप नहीं होता। मुंबई में एक समानान्तर दुनियां है जो अंधेरा छाने के बाद ही गुलजार होती है। उसे अंधेरे का, शाम ढलने का इन्तजार रहता है। वह अपने अंधेरों पर शर्मिन्दा नहीं, दूसरों का सूरज लील कर ही अंधेरा कमाती है। रोशनी भरी दुनियाँ के नियम यहां नहीं चलते। यहां सूरज छीन लेना भी जायज है और अँधेरा छीन कर बड़ा 'अंधेरेदार' बन जाना भी।

बहरहाल, अंधेरे के इन आढ़तियों ने जब अंधेरे की नीलामी शुरू की तो उल्लुओं की आंखें चमक उठीं। खुदरा व्यापारी जब तक आंखें रगड़ कर अंधेरे के अभ्यस्त होने की कोशिश कर ही रहे थे कि पहली बोली लगाने वाला अपनी गठरी समेटता जा पहुंचा वापस अपनी जगमगाती दुनिया में। आउटपुट की डेस्क पर वामाचार द्वारा सुशांत की मौत को मथा गया और चौंधियाती रोशनी के बीच स्टूडियो में टीआरपी के मक्खन का बड़ा भाग बटोर लिया। बचे हुए मक्खन की एक-एक बूंद के लिये बाकी व्यापारियों के बीच देवासुर संग्राम से अधिक सघन संघर्ष जारी है। सोशल मीडिया पर शेयर और लाइक पाने का संघर्ष इस टीआरपी संघर्ष का ही विस्तार है।

सुशांत की मौत ने फिल्मी दुनिया की चारदीवारी में एक ऐसा सुराख कर दिया है जिसमें से झांक कर हर कोई अपनी आंखों देखा सच दुनियाँ को बता रहा है। मायालोक के हर रहस्य को जानने को उत्सुक एक वर्ग हर नये आभास को सत्य मानकर उस पर विश्वास करता है। प्राइम टाइम में हर चैनल हर रात एक नया तमाशा लेकर आता है और दर्शक उस पर टीआरपी के सिक्के उछालता है। मदारी टीआरपी बटोरता है और अगली रात नये तमाशे के साथ आने का वादा करके चला जाता है।

घंटों के तनाव के बाद दर्शक चैन की सांस लेता है। मन ही मन सोचता है कि अगर सुशांत की मौत न हुई होती तो शायद आज भी विकास दुबे को ही देखना पड़ता। दर्शक अनुभवी हो चुका है। वह जानता है कि विकास दुबे सिर्फ अपराधी था। अपराध में ग्लैमर का तड़का अगर लगे तो टीआरपी के पैमाने पर वह सोने पर सुहागा है। सुशांत की मौत विकास पर हावी होगी ही। तारिकाओं के ट्वीट इसे लम्बे समय तक प्रासंगिक बनाये रखेंगे। वह यह भी जानता है कि दुनियाँ आनी-जानी है। महत्वपूर्ण मौत नहीं टीआरपी है।

'प्रणव दा' चले गये! जो आया है वह जायेगा, प्रणव दा भी चले गये! क्या कहा ? देश के लिये उन्होंने कितना कुछ किया ? पतन के दौर में भी मूल्यों पर टिके रहे! ठीक है, दे तो दिया भारतरत्न! लेकिन टीआरपी के पैमाने पर वे सुशांत तो क्या, विकास दुबे के सामने भी कहीं ठहरते हैं ? नहीं न। फिर आज उनकी चर्चा का क्या प्रयोजन। यह चैनल का निर्णय नहीं है। यह तो दर्शक का ही निर्णय है कि वह क्या देखना चाहता है। यही तो टीआरपी है। दर्शक नहीं, यह टीआरपी के डब्बे हैं जो कुछ अफलातूनों की सनक को भारतीय दर्शकों का मत बता कर परोसते हैं और 'अंधेरे के आढ़ती' अंधेरा बेच कर उजाले अपनी तिजोरियों में बंद कर लेते हैं।

परदा छोटा हो या बड़ा। सत्य हरिश्चंद्र हो या उदन्त मार्तण्ड। दादा साहब फाल्के हों या पं. जुगल किशोर शुक्ल, या फिर गणेश शंकर विद्यार्थी अथवा बाबूराव पराड़कर। यात्रा मूल्यों की स्थापना से प्रारंभ हुई और अवमूल्यन का बोझ समेटे आज उन्हीं मूल्यों के विरुद्ध ताल ठोंक रही है। सत्व और तम के इस निरंतर संघर्ष में 'संवादसेतु' सत्व के पक्ष में खड़ा है और यह परिस्थितिजन्य विवशता नहीं उसका चुनाव है, संकल्प है।

आशुतोष भटनागर
संपादक

जानलेवा बहसों का शोर...

उमेश चतुर्वेदी

स्वाधीनता दिवस के ठीक दो दिन पहले तेरह अगस्त की शाम को कांग्रेस के प्रवक्ता राजीव त्यागी का एक टेलीविजन बहस के बाद निधन होने के बाद लगा कि टेलीविजन चैनल और राजनीतिक दल मिलकर रोजाना शाम को रक्तचाप और धड़कनें बढ़ाने वाली बहसों के लिए ऐसा फॉर्मूला निकालने की तरफ बढ़ेंगे, जिससे भावी बहसें ना सिर्फ मुद्दा आधारित हों, बल्कि उनके मंथन के बाद राष्ट्र और समाज को कुछ मिलने की उम्मीद बढ़े। जिससे रक्तचाप नियंत्रित रहे और हंगामा जैसी स्थितियों से बचा जा सके। लेकिन दुर्भाग्यवश राजीव त्यागी का निधन भी बेकार जाता दिख रहा है। राजनीतिक दल इस दिशा में आगे बढ़ते नहीं दिख रहे हैं। रही बात टेलीविजन चैनलों की तो पिछले करीब एक दशक में उनका चरित्र ही इस तरह से विकसित हुआ है कि अगर उनकी बहसों से दर्शकों और चैनलों के अपने कार्यक्रम निर्माताओं की धमनियों में बहते खून में तेजी ना आ पाए तो उन्हें शायद ही चैन पड़े।

राजीव त्यागी चूंकि कांग्रेस के प्रवक्ता थे, लिहाजा कांग्रेस से उम्मीद की जानी चाहिए थी कि शोक की घड़ी में वह कुछ गंभीरता दिखाएगी। लेकिन उसके कार्यकर्ताओं और छुटभैये नेताओं ने राजीव त्यागी के निधन के लिए भारतीय जनता पार्टी के प्रवक्ता संबित पात्रा को

जिम्मेदार ठहराते हुए उन्हें निशाने पर लेना शुरू कर दिया। उन्होंने जगह–जगह उनके खिलाफ पुलिस में एफआईआर दर्ज करा दी। कांग्रेस कार्यकर्ताओं का आरोप था कि आजतक चैनल के जिस कार्यक्रम के बाद राजीव त्यागी को हृदयघात पहुंचा, उसमें भारतीय जनता पार्टी के प्रवक्ता संबित पात्रा ने जयचंद कहा था। हालांकि कांग्रेस का यह आरोप शायद ही किसी के गले उतरे। दर्शक और पत्रकार भी यह शायद ही स्वीकार कर पाएं कि राजीव त्यागी का निधन सिर्फ इस कथन के बाद लगे सदमे से हो गया।

जो लोग टेलीविजन के कार्यक्रम बनाते रहे हैं, उन्हें पता है कि कुछ साल पहले तक स्टूडियो में बैठे विरोधी दलों तक के प्रवक्ता जब कार्यक्रम में ब्रेक होता था तो आपस में चुहल करने लगते थे और एक–दूसरे से ऐसे बात करते थे, मानो उनके बीच कुछ हुआ ही न हो। लेकिन जैसे ही पैनल कंट्रोल रूम से कार्यक्रम शुरू करने के लिए उल्टी गिनती शुरू हो जाती थी, राजनीतिक दलों के प्रवक्ता या स्टूडियो में आए मेहमान ऑन रिकॉर्ड वाली अपनी भूमिकाओं के लिए ठीक उसी तरह अलर्ट मोड में आने लगते थे, जैसे किसी नाटक में पात्र पर्दा उठने के बाद अपनी भूमिकाओं के लिए तैयार होते हैं।

लेकिन हाल के दिनों में ऐसी स्थिति नहीं रही। कुछ वर्षों में जिस तरह अपनी बहसों की ओर कार्यक्रमों के प्रोड्यूसरों, चैनलों के नीति–नियंताओं और एंकरों ने चीखमचिल्ली का रास्ता अख्तियार किया है, उससे टेलीविजन की बहसें मछली बाजार जैसी बनती गई हैं। रही–सही कसर कार्यक्रमों में शामिल किए जा रहे स्तरहीन लोगों की भाषा ने पूरी कर दी है। टेलीविजन के नियंता मान चुके हैं कि दर्शकों के समर्थन की बड़ी रेटिंग इसी तरीके से मिल सकती है, लिहाजा चीख, चिल्लाहट का जोर बढ़ा है। इन दिनों समाचार टेलीविजन चैनलों के नियंताओं ने अपनी बहसों के लिए फॉर्मूला ही बना लिया है। मसलन जब दो समुदायों से

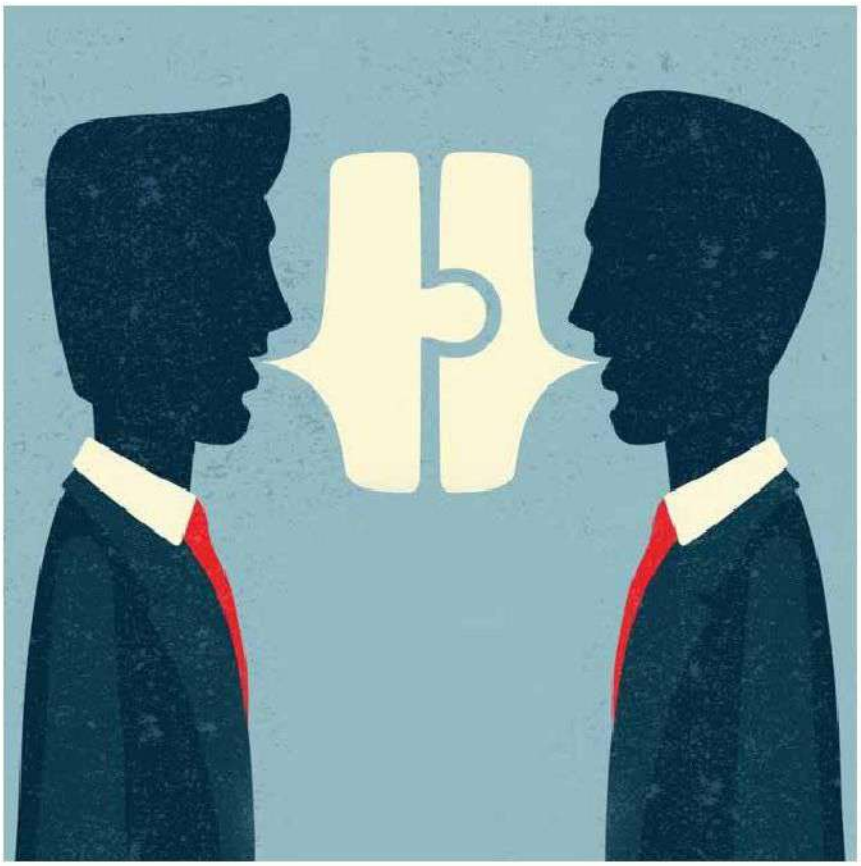

संबंधित कोई मसला हो, तो एक तरफ से वे मुस्लिम उलेमा बैठाते हैं तो दूसरी तरफ से हिंदू पुजारी या पंडित। इसके लिए उन्होंने फॉर्मूला बना दिया है। उलेमा का मतलब बड़ी दाढ़ी, आंखों में सुरमा और पंडित–पुजारी के लिए गेरूआ वस्त्रधारी ललाट पर बड़ा टीका और दाढ़ीधारी सज्जन। दोनों ही समुदायों के कथित प्रतिनिधि जितना ज्यादा भयानक लगेंगे, टेलीविजन के नियंता मानते हैं कि उनका टेलीविजन स्क्रीन उतना ही आकर्षक लगेगा। चूंकि ऐसी बहसों और गेटअप में आने के लिए अब दोनों तरफ के गंभीर लोग बचने लगे हैं तो जानकारी. हीन लोगों की पौ बारह हो गई है। अब बहसों में राजनीतिक दलों के उन प्रवक्ताओं को ही तरजीह दी जाने लगी है, जो आक्रामक ढंग से अपनी बात रखें। भले ही उनके तर्क गलत हों। तर्कशील और गंभीर बात करने वाले, स्वर में ठहराव वाले नेता अब टेलीविजन बहसों के लिए आकर्षक नहीं रह गए हैं। अगर कभी ऐसे नेता, विशेषज्ञ या जानकार बुला लिए जाते हैं और गुरू–गंभीर आवाज में तार्किक ढंग से अपनी बात रखने लगते हैं तो उन्हें पीछे से टेलीविजन चैनल के मेहमान संयोजक की तरफ से सुझाव आने लगता है, सर जरा तेज बोलिए जरा चीखिए जरा चिल्लाइए ऐसे माहौल में जो लोग अपना रक्तचाप बढ़ाना नहीं चाहते, वे टेलीविजन की बहसों से बचने लगे हैं।

हिंदी समाचार चैनलों की कथित बहसों पर निगाह डालिए, यहां भी कुछ ऐसी ही स्थिति आपको नजर आएगी। टेलीविजन की इन कथित बहसों पर जब भी अपनी निगाह जाती है, गांवों में कुत्ते के बच्चों के साथ ग्रामीण बच्चों की ठिठोली याद आ जाती है। गांव के कुछ किशोरवय बच्चे आनंद के लिए कुत्ते के दो बच्चों को गर्दन से पकड़ कर उनके थूथन से थूथन को जबरदस्ती भिड़ाते हैं यह भिड़ाना तब तक नहीं थमता जब तक

आजिज आकर कुत्ते के दोनों बच्चे आपस में लड़ने न लगें इसके बाद तालियां बजने लगती हैं और उपस्थित बाल समुदाय इस लड़ाई का आनंद उठाने लगता है। यह आनंद उठाने की टेलीवि. जन स्टूडियो तक पहुंची प्रवृत्ति का ही कमाल है कि कुछ चैनलों पर ऑन एयर मारपीट हो चुकी है। कुछ साल पहले एक चैनल में एक कथित उलेमा ने एक महिला से अभद्रता की थी तो एक चैनल के कार्यक्रम में एक राजनीतिक प्रवक्ता ने अपने विरोधी पर गिलास का पानी फेंक दिया था।

याद आती है 2006 की जी न्यूज की एक बहस। उन दिनों मध्य प्रदेश सरकार ने महिलाओं के लिए कोई कानून बनाया था। उस पर रात के कार्यक्रम में बहस होनी थी। उस कार्यक्रम में भारतीय जनता पार्टी का पक्ष रखने उत्तर प्रदेश के पूर्व पुलिस अधिकारी और तब भाजपा के राज्यसभा सदस्य वीपी सिंघल आए थे। उन्होंने जैसे ही अपने सामने भोपाल से बहस के लिए उन दिनों मशहूर हुए पटना के प्रोफेसर और लव गुरू मटुकनाथ को देखा तो हत्थे से उखड़ गए। उन्होंने साफ शब्दों में जी के प्रोड्यूसरों से कहा था कि मेरा स्तर उस प्रोफेसर से बहस करने का नहीं है। दुर्भाग्यवश अब ऐसी हिम्मत भी राजनेता या जानकार कम दिखा पाते हैं। इसकी एक बड़ी वजह यह है कि अब अवधारणाओं का खेल बढ़ गया है। कोई भी राजनीतिक दल अपनी छवि कमजोर होते नहीं देख सकता। बदले माहौल में माना जाने लगा है कि अगर आप स्टूडियो या बहस छोड़कर भागते हैं तो इसका मतलब आप कमजोर हैं। न्यूज मेकर समझते हैं कि इससे उनका युवा मतदाता निराश होता है। उन्हें भी महसूस होता है कि अगर वे चीखते–चिल्लाते हैं तो उनका युवा मतदाता खुश होता है। इसलिए वे टेलीविजन चौनलों के चीखमचिल्ली के खेल में कई बार इस वजह से भी न चाहते हुए शामिल होते हैं।

वैसे भी मौजूदा दौर में टेलीविजन नियंता हो गया है। उसका सामाजिक और अवधारणा बनाने का दबाव एवं देखते ही देखते स्टार बनाने की उसकी इतनी ताकत हो गई है कि चाहकर भी राजनीतिक दल इससे दूर नहीं हो पाते। टेलीविजन के पर्दे का आकर्षण इतना बड़ा है कि गंभीर व्यक्ति भी उसके सामने आने का लोभ संवरण नहीं कर पाता। अपनी ताकत और राजनीतिक दलों जानकारों की मजबूरी का फायदा टेलीविजन चैनल उठा रहे हैं। यह दबाव का अर्थशास्त्र ही है कि रिपब्लिक चैनल के अर्णव गोस्वामी अपने कार्यक्रम 'पूछता है भारत' में ना सिर्फ चिल्लाते हैं, बल्कि कार्यक्रम में शामिल राजनीतिक दलों के प्रवक्ताओं और नेताओं को उकसाते भी हैं। हालांकि उनका यह कृत्य देखकर कई बार डर भी लगता है कि राजने. ताओं का जो होगा, सो होगा...उनका ही रक्तचाप कहीं अपशगुनी स्तर तक न बढ़ जाए।

भारतीय समाचार टेलीविजन चैनलों के विकास के दौर में दरअसल जो हस्तियां जिम्मेदार पदों पर रहीं, उनमें से ज्यादातर को बौद्धिकता से लेना–देना कम रहा। उन्हें मुद्दों से ज्यादा नौटंकी शैली में ही अपना विकास दिखा। चूंकि टेलीविजन चाक्षुष माध्यम है, लिहाजा उन्होंने उस दौर के हिंदी सिनेमा से प्रेरणा ली। जिसकी सफलता का राज ग्लैमर और मसाला रहा। रचनात्मक जन माध्यम के तौर पर विकसित करने में भी उनकी दिलचस्पी कम रही। इसीलिए टेलीविजन मसाला फिल्मों की तरह बढ़ता गया और उसकी बहसें चीखमचिल्ली के भयावह स्तर तक पहुंचती गई।

राजीव त्यागी के निधन के बहाने अव्वल तो होना चाहिए था कि राजनीति, टेलीविजन जगत की हस्तियां और जानकार ऐसे फॉर्मूले की तरफ बढ़ने की कोशिश करते, जहां हंगामे से ज्यादा मुद्दों पर जोर रहता। लेकिन दुर्भाग्यवश अभी ऐसा होता नजर नहीं आ रहा है।

– लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।

चित्र : मृणाल इनेज से साभार

मूवी माफिया के कब्जे में 'भारतीय मन'

डॉ॰ जयप्रकाश सिंह

नया भारत और स्वच्छ भारत बनाने का लक्ष्य बॉलीवुड को स्वच्छ और नया बनाए बगैर प्राप्त नहीं किया जा सकता। असल में बॉलीवुड इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सबसे बड़ा प्रोजेक्ट है। बॉलीवुड को स्वच्छ करना जरूरी है, तभी नया भारत बन सकता है। एक टीवी चैनल को दिए गए इंटरव्यू में अभिनेत्री कंगना रणौत ने बॉलीवुड की ताकत और उसमें पसरी गंदगी की तरफ संकेत करते हुए यह टिप्पणी की थी।

कई लोगों को यह बात अटपटी लग सकती है। भला 'नया भारत' और 'स्वच्छ भारत' का मुंबइया सिनेमा से क्या सम्बंध हो सकता है? हमेशा 'महत्वपूर्ण मुद्दों' पर चर्चा करने के शौकीन कई बुद्धिजीवी पिछले दो महीनों से सोशल–मीडिया पर इस बात के लिए आक्रोश व्यक्त कर रहे हैं कि सुशांत सिंह राजपूत आत्महत्या–हत्या प्रकरण को कुछ चैनल इतनी कवरेज क्यों दे रहे हैं? उनके लिए फिल्म और उससे जुड़े मुद्दों पर चर्चा करना वाहियात मुद्दे पर चर्चा करने जैसा है।

ये वही लोग हैं जो अन्य जगहों पर नई पीढ़ी में बढ़ती नशे की लत पर रोना रोते हैं। परिवार टूटने, सम्बंधों के बिखरने पर नोस्टैल्जिक होकर व्याख्यान देते हैं। सामाजिक–सरोकारों से युवाओं की बढ़ती दूरी पर कोसते हैं। लेकिन तनिक ठहरकर, इस बात का विश्लेषण करने की जहमत नहीं उठाते कि ऐसा क्यों हो रहा है? जिस तथाकथित नई पीढ़ी के बिगड़ने की बातें हर जगह होती हैं, वह नई चीजें सीख कहां से रही है? उसे आधुनिकता, प्रगतिशीलता, वैज्ञानिकता के नाम पर जो परोस जा रहा है, उसे वह स्वीकार कर रही है। प्रश्न यह है कि वह परोसने वाला कौन है? कौन है जो भारत की नई पीढ़ी के मन और स्वप्न को गढ़ रहा है? कौन भारतीय मन पर कुंडली मारकर बैठा हुआ है? ऐसा कौन सा प्लेटफार्म है, जो भारतीय मन और उसके स्वप्नों को निर्धारित कर रहा है?

जनसामान्य और विशेषज्ञ अलग अलग शब्दावली और लहजे में एक ही निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि नई पीढ़ी पर सबसे अधिक प्रभाव फिल्मी दुनिया का है, बॉलीवुड का है। समाजीकरण के अन्य माध्यमों का प्रभाव फिल्मी दुनिया के सामने हल्का पड़ता जा रहा है।

खान–पान, रहन–सहन, जीवन के लक्ष्य, व्यवहार के मुहावरे सभी वहीं से तो आ रहे हैं। जिसके हाथों में देश की पूरी पीढ़ी हो, उस पर चर्चा करना निरर्थक विषय पर चर्चा करना कैसे हो सकता है? कंगना रणौत की टिप्पणी को इस संदर्भ में रखकर समझने की कोशिश करें तो उसके अर्थ आसानी से खुल जाते हैं।

इससे भी बड़ी बात यह कि जिस प्लेटफार्म और इंडस्ट्री के पास इतनी ताकत है, जो अपनी सम्मोहन–शक्ति के कारण सांस्कृतिक–अभिकेन्द्र बन गया है, उसको पारदर्शी, स्वच्छ और राष्ट्रीयता से ओत–प्रोत बनाने की जिम्मेदारी हमारी प्राथमिकता सूची में सबसे ऊपर होनी चाहिए। युवाओं के सबसे बड़े रोल मॉडल संवैधानिक और राष्ट्रीय मूल्यों के अनुसार

चित्र: गूगल इमेज से साभार
वेबसीरीज आश्रम का पोस्टर

काम करें, यह आवश्यक हो जाता है। इस दिशा में कार्य करना, उसके लिए परिवेश बनाना, पसरी हुई सड़ांध को दूर करने के लिए मुखर होना एक महत्तर राष्ट्रीय कर्तव्य बन जाता है। इसलिए बॉलीवुड पर बहस बहुत जरूरी हो जाती है और उसकी पारदर्शिता के लिए उठने वाली किसी भी आवाज का महत्व बढ़ जाता है।

कंगना की ही शब्दावली का इस्तेमाल करें तो बॉलीवुड कोई इंडस्ट्री नहीं बल्कि एक रैकेट की तरह कार्य करता है। हिन्दूफोबिक और राष्ट्रविरोधी मानसिकता से चलने वाले माफिया–गिरोह की तरह है। यदि बॉलीवुड के इतिहास पर नजर डालें तो इस तथ्य को आसानी से समझा जा सकता है।

भारत में फिल्मों की शुरुआत लगभग एक सदी पहले दादा साहेब फाल्के से होती है। ऐतिहासिक साक्ष्य यह साबित करते हैं कि फिल्मी दुनिया में उनके प्रवेश का कारण भारतीय सभ्यता के उज्जवल पक्ष को लोगों के सामने रखना था। उन्हें मिशनरियों द्वारा दिखाई जा रही फिल्म 'लाइफ ऑफ क्राइस्ट' को देखकर पीड़ा हुई थी कि वे फिल्मी माध्यम का उपयोग मतांतरण के लिए कर रहे हैं। इसके बाद वह संकल्प लेते हैं कि फिल्म निर्माण की बारीकियों को सीखकर भारतीय कथानक और मूल्यों को आगे बढ़ाएंगे।

फिल्म निर्माण की बारीकियों के सीखने की उनके संघर्ष की एक अलग कहानी है। लेकिन उनकी पहली फिल्म राजा हरिश्चंद्र बताती है कि फिल्म निमार्ण में उनकी प्राथमिकताएं क्या थीं।

स्वतंत्रता के समय और उसके दो दशक बाद तक भारत का फिल्म जगत अपने सांस्कृतिक मूल्यों, देशज मान्यताओं और देशभक्ति से ओतप्रोत था। लेकिन इसी बीच बॉलीवुड में दो पटकथा लेखकों सलीम जावेद का प्रवेश होता है। और इसी के साथ शुरू होता है संवाद और कहानियों में भारतीय समाज को वैचारिक और सभ्यतागत पूर्वाग्रहों के साथ पेश करने का सिलसिला। शोले, जंजीर, अंदाज, डॉन जैसी फिल्मों में इस पूर्वाग्रह को इतनी कुशलता के साथ गूंथा गया है कि दर्शक आसानी से इसको पकड़ नहीं पाता। समाज के कुछ वर्गों को बुरा और कुछ वर्गों को अच्छा दिखाने की परम्परा शुरु हुई। और यहीं से शुरु होता है अपनी परम्पराओं, सामाजिक सरंचना और भारतीय यथार्थ का मखौल उड़ाने का सिलसिला, जो अब खुल्लम खुल्ला देश का मखौल उड़ाने तक पहुंच गया है। उस समय गढ़ी गई 'एंग्री यंगमैन' की छवि ने भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को किस तरह प्रभावित किया, इसका विश्लेषण किया जाए तो वैचारिक आग्रहों को आसानी से पकड़ा जा सकता है।

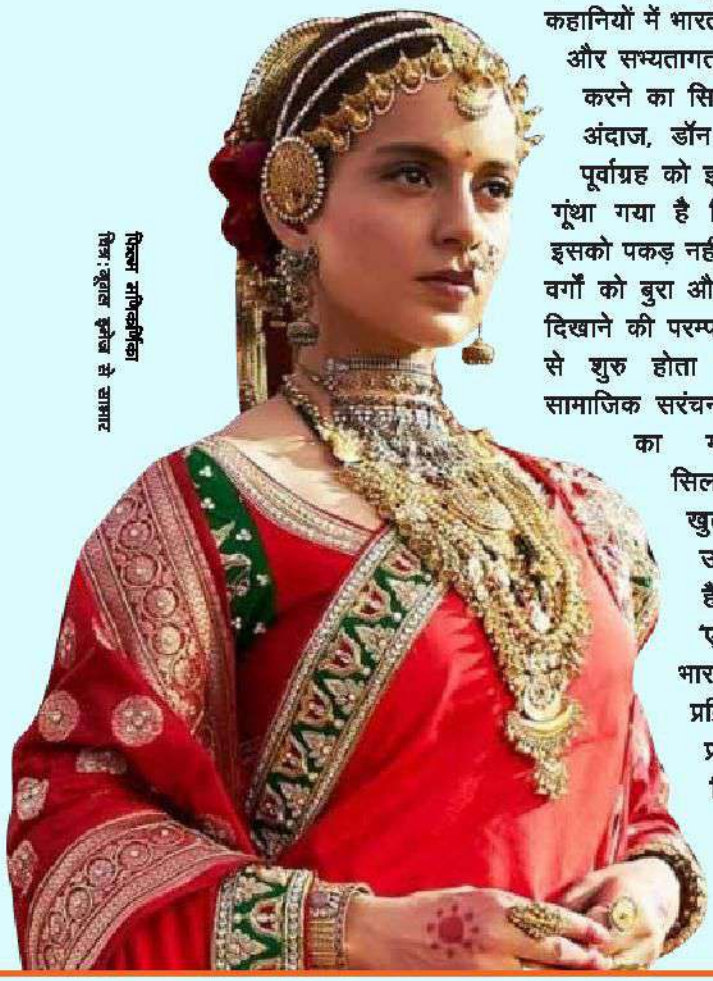

फिल्म : मणिकर्णिका क्वीन ऑफ झांसी

नब्बे के दशक में बॉलीवुड तेजी से माफिया के शिकंजे में फंसता गया। फिल्मी दुनिया को इंडस्ट्री का दर्जा देकर इसे रोकने की कोशिश की गई, लेकिन माफिया, ड्रग रैकेट की घुसपैठ बॉलीवुड में इस कदर हो चुकी थी कि वह उससे ही संचालित होने लगा। मुम्बई बम धमाकों के बाद जब यहां का माफिया कराची पहुंचा तो उसके जरिए आईएसआई को बॉलीवुड में घुसपैठ करने का मौका मिल गया। उसके बाद तो जो काम संवादों में गूंथकर होता था, वह खुल्लमखुल्ला होने लगा। मिशन कश्मीर, फना, माय नेम इज खान जैसी फिल्मों का पूरा कथानक ही इस तरह से बुना गया, जिससे पाकिस्तान का दृष्टिकोण साबित होता है।

इसी दौर में दिव्या भारती की रहस्यमय स्थितियों में मौत होती है। गुलशन कुमार ने टी सीरीज के जरिए देश में भक्ति संगीत की एक नई गंगा बहाने की कोशिश की थी। पूरे देश ने उनके प्रयासों को हाथों–हाथ लिया था। बाद में उनकी नृशंस हत्या कर दी गई। उसके बाद पिछले दो दशकों से इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया। आज भी भक्ति और देशभक्ति के लिए लोगों को दशकों पूर्व के गानों से ही काम चलाना पड़ता है। आशुतोष राणा जैसे फिल्मकारों, जिनकी भाषा और दर्शन को लेकर एक स्पष्ट झुकाव था, उनके कैरियर को तबाह कर दिया गया। विवेक ओबेरॉय जैसों का कैरियर व्यक्तिगत कारणों से तबाह कर देना हाल की ही घटना है।

कंटेट के जरिए भारतीय आस्था के प्रतीकों को किस तरह से नुकसान पहुचाया जा सकता है, इसके हालिया उदाहरणों ने लोगों को सोचने पर विवश कर दिया है। पीके में भगवान शिव और गलियों की रामलीला में भगवान राम का मजाक तो खुले आम दिखता है। बजरंगी भाईजान में बंदरों के सामने झुकने या शाकाहारी खाने का जिस तरह मजाक उडाया गया है, वह बहुत बारीकी से

देखने पर ही समझ में आता है। दंगल में खास मजहब के बेचने वाले मुर्गों का खाना, अंततः मांसाहार बनाने की अनभिज्ञता और कुश्ती के फाइनल के दिन प्रसाद के रूप में मिट्टी देने की घटना के जरिए किस तरह सभ्यतागत एजेंडे को आगे बढाया गया है, वह आसानी से समझ में आता है।

कंगना रणौत ने क्योंकि इस इंडस्ट्री में काम किया है, इसलिए उनके शब्दों में बॉलीवुड में काम कर रही देश विरोधी और सभ्यता विरोधी संरचना को समझना आवश्यक है। कंगना के अनुसार यह पूरा ढ़ांचा तीन स्तरों पर काम करता है। पहले स्तर पर महेश भट्ट जैसे लोग हैं, जो दिखने में कूल और आधुनिक लगते हैं, लेकिन फिल्में जेहादी बनाते हैं। दूसरे स्तर पर जावेद अख्तर जैसे लोग हैं, जो स्वयं को नास्तिक बताते हैं, लेकिन उनका पूरा ध्यान इस बात पर होता है कि कौन लोग इस्लामिक सिद्धांतों के अनुसार काम करते है और कौन उसके विरोध में काम करते हैं। इसके आधार पर किसी अभिनेता को आगे बढ़ाने और रोकने की रणनीति बनाते हैं। तीसरे स्तर पर करण जौहर जैसे लोग हैं जो फिल्मों के कंटेंट को इस तरह से मोड़ते हैं, जिससे अपना देश, अपनी परम्पराएं ही खलनायक दिखने लगती हैं। गुंजन सक्सेना फिल्म में कपोल कल्पित पितृसत्ता को दिखाने की बात हो या केसरी में सैनिकों द्वारा मस्जिद बनाने की बात, इसी तथ्य को साबित करते हैं, जबकि सच्चाई इसके बिल्कुल विपरीत थी।

मन पर कब्जा किसी देश के लिए सबसे भयावह स्थिति होती है। इसको लम्बे समय बरकरार रखने की इजाजत दे दी जाए तो गुलामी में आजादी और आजादी में गुलामी का भ्रम पैदा होने लगता है। इसलिए मूवी माफिया के शिकंजे को तोड़ना जरूरी हो जाता है। यह स्थापित तथ्य है कि मूवी माफिया की जान ड्रग में बसती है, इसके जरिए वह जहां बॉलीवुड के तंत्र को लचर बनाता है, अभिनेता अभिनेत्रियों की कमजोरी का लाभ उठाने की स्थिति में पहुंचता है, वहीं उसे बॉलीवुड में निवेश लायक धन भी मिलता है। ड्रग के जरिए उगाही और फिल्मों में निवेश, यह एक सेट फार्मूला है।

इस स्थिति से निकलने का एक सहज और सरल उपाय अपने अनुभवों के आधार पर कंगना रणौत ने सुझाया है, वह यह है कि सभी अभिनेता, अभिनेत्री, फिल्म डायरेक्टरर्स का किसी फिल्म शुरू करने से पहले इस बात को जानने के लिए ब्लड सैंपल लिया जाना चाहिए कि वह हार्ड ड्रग कनज्यूम करते हैं या नहीं और दूसरा उनसे यह हलफनामा लिया जाना चाहिए कि वह देश विरोधी कंटेट और मानसिकता को आगे नहीं बढ़ाएंगे। जब खेलों तक में डोप टेस्ट किए जाते हैं तो पूरे देश की मानसिकता को प्रभावित करने वाले लोगों का ब्लड टेस्ट, डोप टेस्ट क्यों नहीं होना चाहिए। आखिर किसी को भी अपने बच्चों का रोल मॉडल बनाने की इजाजत तो नहीं दी जा सकती। **#drugtestforcelebrities** का अभियान समय और देश की मांग है।

चित्र:गूगल इमेज से साभार

फिल्मों का कलामूल्य

त्रिवेणी प्रसाद तिवारी

जीवन में किसी भी वस्तु को पाने का, प्रथम भोक्ता होने का जो मानवीय गौरव क्षण है, उसे हम सब जीना चाहते हैं। प्रथम होने की स्वाभाविक लालसा हमें तुष्ट करती है चाहे वह किसी भी रुप में हो। कलाओं के आस्वादन में भी यही भाव निहित रहता है। व्यक्ति कलाओं के साथ रसानुभूति में सबसे पहले मैं की ही तुष्टि पाता है। वह अनुभव करता है कि वह अनुभूति उसके साथ है और पहला है। यह भाव–विभाव कला और प्रेक्षक के मध्य होता है। यही आनंद हमें सिनेमा देखने पर भी महसूस होता है। सिनेमा यदि किसी स्थापित कला के निकटस्थ है तो वो है नाट्य कला।

दोनों विधाओं में मुख्य है अभिनय। जीवन का दूसरा नाम अभिनय ही तो है। प्रतिरुपों का व्यापार। नाट्य और सिनेमा की तुलना से हम इसकी आधुनिकता, समकालीनता और कलामूल्यों को समझ पायेंगे। फिल्में निर्जीव मशीनी आँखों से देखा गया आधुनिक मनुष्य का स्वप्न है। इसका संसार अनूठा है। यह सामने जितना सच दिखता है उसकी प्रक्रिया में उतना ही हस्तक्षेप होता है। इसमें मुख्य रुप से होता तो अभिनय ही है, परन्तु वातावरण, परिप्रेक्ष्य रचने हेतु, अभिनय को काफी हद तक काट–छाँट कर नियंत्रित किया जाता है। नाटकों में दैहिक क्रियाकलाप, अंग संचालन का एकबारगी प्रस्तुति और साधारणीकरण की अनुभूति होती है। रंगमंच, नेपथ्य, प्रकाश, यवनिका(परदा) और रंगभूमि का उचित माप इत्यादि अभिनय की परिधि को अनुशासित करते हैं। इस दायरे में भाव संचार सीधे दर्शक और अभिनेता के बीच होता है। अभिनय, संगीत, ध्वनि का प्रथम भोक्ता दर्शक होता है। जबकि फिल्में दर्शक और अभिनय के मध्य सीधी प्रक्रिया न होकर, अलग–अलग एकाकी होती हैं। कई–कई बार दुहराते हुए रिकार्ड किये गये अभिनय के बीच की ही कोई कड़ी, तकनीकी मदद से जोड़ कर, अभिनय का आभासी रुप हमें परदे पर देखने को मिलता है। उसमें भी कितनी मिलावट की जाती है कल्पनाओं की एकरुपता साधने के लिए।

फिल्म की कला सामूहिक अवदान और तकनीक पर आधारित है। इसमें अभिनय खण्ड–खण्ड रुप में घटित होता है जिसे तकनीक द्वारा जोड़कर आभासीय कल्पना का सृजन किया जाता है। दूसरे अर्थों में यह बासी अभिनय है जिसे तकनीकी छौंक बघार के साथ सजावटी ध्वनियों में प्रस्तुत किया जाता है। फिल्में कथा को सजीव वातावरण में दिखाती हैं अतः उसका प्रभाव बढ़ जाता है। फिल्म देखते हुए आप उसकी गिरफ्त में होते हैं। हालाँकि किसी कृति की पकड़ में होना उसकी सफलता मानी जाती है परन्तु यहाँ मामला दूसरा है। मामला संवेदना के स्तर को क्रियान्वित करने का है। उदाहरणार्थ यदि आप चित्र देखते हैं तो चित्रकार की कल्पना के प्रथम आधार रंगों रेखाओं लाघव–तीव्रता और कटाव को सीधे सीधे अनुभव करते हैं। नाटकों में भी दैहिक अनुभूति दर्शक और अभिनय के मध्य होता है जहाँ गहराई में संवेद्य घटित होता है। यहाँ रचनाकार और प्रेक्षक के बीच सीधा संवाद होता है। यहाँ दर्शक, अभिनेता और अभिनय एक ही तल पर स्पंदित होते हैं। तीनों एक साथ एक ही समय में प्रवाहमान होते हैं। उस क्षण की अनुभूति पवित्र एवं एकोहं की होती है। इसमें रिवाइन्ड नहीं होता। जबकि फिल्म विधा अभिनय कला को प्राथमिक स्तर पर ही छू पाती है जिससे संवेदना का प्राथमिक रुप ही बना रहता है। इसमें अभिनेता और अभिनय कई समयान्तरालों में घटित होता है। अभिनेता जिस चरित्र को दैहिक रुप में

कलंक फिल्म का दृश्य चित्र:गूगल इमेज से साभार

कथा को जीता है वह एक धरातल पर नहीं होता। जिस दर्शक के लिए वो नायकत्व को जीता है वो किसी दूसरे समयबोध में उससे जुड़ते हैं तिस पर भी आभासीय रुप में। दर्शकों के स्पंदित क्षणों में, उस रससिक्त समय में अभिनेता अपने अभिनय से कब का उतर चुका होता है।

वो कोई अन्य जीवन जी रहा होता है इसलिए नायकत्व का कोई भी आदर्श, भाव, मूल्य न तो अभिनेता को प्रभावित करता है न तो स्थायी रूप से दर्शकों को। दर्शकों को मिलती है केवल आक्रामक कल्पनाशीलता। फिल्म देखनेवाला व्यक्ति कल्पना की आक्रामक तीव्रता से ग्रस्त भाव या बोझिल अवस्था का आभास लेकर लौटता है। प्रेक्षक को प्रतीत भले न हो लेकिन फिल्म देखने के दौरान वो एकांगी क्षण को जी रहा होता है क्योंकि सामने न कोई अभिनेता, न ही वास्तविक मानवीय ध्वनि है। उसका अपना स्पंदन उद्भूत हुये बिना, तीव्रता से बदलते दृश्यों की परतों तले तकनीक के जाल में स्वयं को छोड़ के गिर सा जाता है और जब फिल्म देख कर हटता है तो सबसे तेज तर्रार क्षण उत्प्रेरक की भांति उसके अन्दर धँस जाते हैं। इसे ही लोग सिनेमा का प्रभाव मानते हैं।

सिनेमा का विकास फोटोग्राफी तकनीक से हुआ है। आधुनिक समय में फोटोग्राफी से चलचित्रों में आते हुये तमाम तकनीकी संभावनाओं के कारण जनमानस को इस माध्यम ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। अभिनय की साम्यता के आधार पर नाट्य और फिल्मों की बात की जाती है। कथा, पात्र, साज–सज्जा, अभिनेयता और आनन्दानुभूति में दोनों विधाएँ एक सी प्रतीत होती हैं लेकिन दोनों में सूक्ष्म से लेकर बाह्यावरण तक काफी अंतर है। मूलतः नाटकों में उपस्थित दर्शक स्वयं कथा को घटित होते हुए देख रहे होते हैं। उसमें घटित घटना के प्रत्यक्ष साक्षी होते हैं तथा फिल्में किसी और (निर्देशक और कैमरा) के आँखों से देखे हुए अभिनय के सम्पादित अंश ही हम देखते हैं। जबकि नाटकों में घटना या अभिनय को बीच में सम्पादित नहीं किया जा सकता। नाट्यविधा में नायक, नायिका को देखता है। उन दोनों के भाव व्यापारों को दर्शक निश्चित दूरी से देखता है। फिर उन भावों को अपनी कल्पना में भी साथ साथ रुपायित करता है।

वहीं फिल्मों में नायक नायिका को नहीं देखता बल्कि वह तो कैमरे को आतुर होकर देखता है। हिरोइन हीरो को देखकर भावातुर नहीं होती, वह भी लेन्स की ओर ही देखती है। और उस लेंस के पीछे होती है किसी निर्देशक की आँखें। उस हिरोइन के भावविह्वल चेहरे पर हीरो की प्रेमल आँखें नहीं होती बल्कि निर्जीव कैमरे का ज़ूम परिप्रेक्ष्य होता है जो पूरे परदे पर बड़ा करके दिखाई देता है और दर्शकों को भ्रम होता है कि हीरो देख रहा है जबकि निर्देशक ये नियोजित करता है कि किस चीज को कितना दिखाना है। अतः हम किसी और की आँखों की देखी हुई दृश्यकथा को अपना देखा मानते हैं। यह गढ़ा गया भ्रम है जिसे हम अपना मानते हैं क्योंकि इसमें प्रेक्षक प्रत्यक्ष अभिनय का साक्षी नहीं होता, वह अपना दिमाग नहीं लगाता।

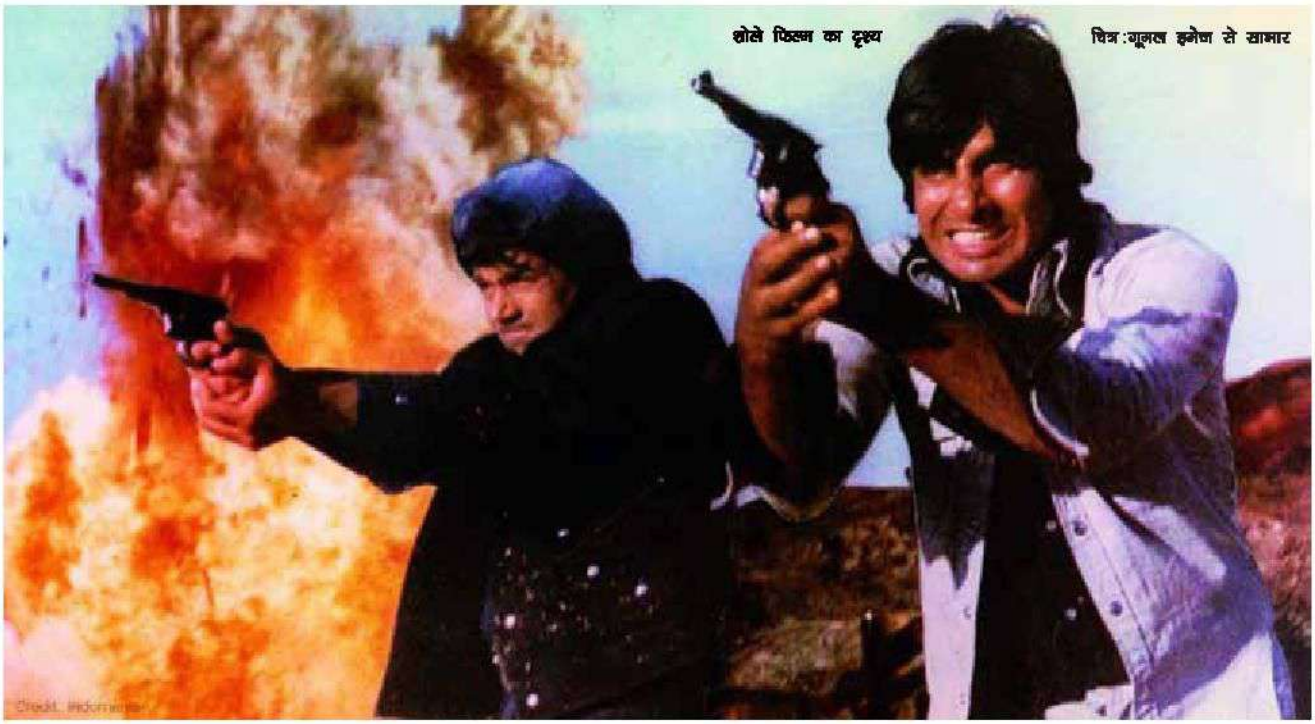

शोले फिल्म का दृश्य चित्र :गूगल इमेज से साभार

जो वस्तु, घटना स्क्रीन पर जितनी अधिक, चमकदार और बार–बार दिखाई पड़ती है दर्शक मन उसी के पक्ष में हो जाता है। तकनीक का प्रयोग कोई गलत धारणा नहीं है। समयानुसार कोई भी कला नवीनता लाने हेतु प्रयोगों से गुजरती है। यहाँ तकनीक का कोई दोष नहीं। फिल्में तकनीकी प्रयोगों से अधिक आश्चर्यजनक बनती हैं लेकिन तकनीक कलामूल्यों पर हावी हो जाए यह ठीक नहीं है। रसानुभूति की मौलिकता को ही भ्रमित कर देना कलात्मक अपराध है क्योंकि यह विधा ललित कला के सभी अंगों से मिलकर निर्मित होती है।

समष्टि की कल्पना पर तकनीक द्वारा किसी की व्यक्तिगत कल्पना सत्य बनकर व्याप्त होने लगे, तो कला का दुरुपयोग है जैसा कि हम फिल्मों में देखते हैं। चूँकि सिनेमा में तकनीक द्वारा सामान्य मानव की क्षमता को कई गुना अधिक, अतिशयोक्ति को सत्य बनाकर दिखाया जा सकता है इसलिए इसमें हस्तक्षेप की संभावना अधिक रहती है। हस्तक्षेप वृत्ति का नकारात्मक प्रभाव इसलिए ठीक नहीं है कि इस विधा का संचरण, इसकी पहुँच

नाट्यविधा में नायक, नायिका को देखता है। उन दोनों के भाव-व्यापारों को दर्शक निश्चित दूरी से देखता है। फिर उन भावों को अपनी कल्पना में भी साथ-साथ रुपायित करता है।

कुछ ही समय में लाखों लोगों तक होती है और इसे कितनी ही बार दोहराया जा सकता है जिससे जनमन में वह बात बैठ जाती है। कविता की अतिशयोक्ति श्रोता अपनी कल्पना की क्षमतानुसार गढ़ता है, संगीत, नृत्य, कला आदि मूल विधाएँ श्रोता–रसिकों को समानान्तर अपनी–अपनी कल्पनाएँ सृजित करने में योगदान करती हैं। प्रेक्षक, कलाकार के सापेक्ष कला का सहारा लेकर अपनी वायवीय दुनिया रचता है और स्वानुभूति को प्राप्त होता है परन्तु फिल्में, फिल्मकार की कल्पना का आरोपण करती हैं।

सभी दर्शक एकरुपता में ही जीते हैं, एक सी कल्पना में बहते हैं जो सामने परदे पर दिखाई पड़ता है। तकनीक द्वारा सृजित कल्पना, अतिशयोक्ति के वैयक्तिक भाव पैदा करती है। इसमें सामूहिक सुमंगल का अभाव रहता है।

जिन कलाओं में यंत्र और तकनीक का उपयोग अधिक किया जाता है वे कलाएँ, कला के मूलभाव को खो देती हैं। वैसे भी सिनेमा अपने मूलस्वरुप में कोई कला नहीं थी। यह तो यंत्रों के विकास और प्रयोग करते करते प्रदर्शन की कला बन गई। यांत्रिक सहयोग के बिना इसका अस्तित्व नहीं है बल्कि यह चित्रकला, नाट्य, साहित्य, संगीत से उधार लेकर संयोजित प्रयास है। ललित कलाओं के विभिन्न अंगों का, उसकी अनुभूतिगम्यता का उचित समावेश करके चलता–फिरता अनुभव दिखाया जाता है। इससे रससिद्धांत की प्रेरणा बेमानी है।

रसानुभव, दर्शक का साधारणीकरण सहज मानवीय स्वभाव है। कोई भी घटना जो वह सुनता है, देखता है तो उसका चित्र मन में बनने लगता है। भाव साधारणीकरण की समानता के आधार पर सिनेमा को भारतीय सौंदर्यशास्त्र से सीधे नहीं जोड़ सकते।

कथाएँ जिस समाज की उपज होती हैं उस समाज के जीवन दर्शन को धारण किये रहती हैं। लोगों की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, जीवनस्वप्न जिन रीति–नीति और धार्मिक विश्वासों में साँस लेती है वही वहाँ के काव्य–कहानियों में मिलता है। फोटोग्राफी फिल्मों से भी पहले, व्यक्ति और कथाओं का दर्शन हमारे यहाँ चित्र मूर्ति में प्रचुर मात्रा में मिलता है। जब फिल्मों का विकास हुआ, उसमें कहानियों के चरित्रों को जीने के लिए जिस आइकनोग्राफी का सहारा लिया गया वे सब साहित्य और चित्र–मूर्ति से लिये गये।

आप पाश्चात्य हालीवुड की फिल्में देखेंगे तो उसमें शारीरिक सौष्ठव, मजबूत कद–काठी, गर्दन को किसी एक ओर झुकते हुये देखने के भावों में आपको यूरोपीय पुनर्जागरणकालीन चित्रकार–मूर्तिकारों के बनाये संयोजन का प्रतिरुप मिलेगा जैसे विंची, माईकल एंजलो, रोदां तिशियन के कला संयोजन। उनकी फिल्मों की पृष्ठभूमि में, रंग, वातावरण और समय में पाश्चात्य रोमांसवादी, यथार्थवादी कला की प्रेरणा है। इंगमार बर्गमैन, माईकलएंजलो एन्टोनियो, तारकोवस्की से लेकर अनेक फिल्मकारों से लेकर आज तक की कला व व्यावसायिक फिल्मों तक सबमें (गहरे समुद्री हरे, सीपिया रंग या कहीं एकदम चटख रंगों का टोन) कथा विकास, चरित्रों का द्वंद्व यूरोपीय मिथक और होमर के महाकाव्य का प्रभाव लिए हुए हैं। ग्रीक देवताओं की गठी काया एवं चेहरे पर उम्र की स्पष्ट छाया, फिल्मी चरित्र में वैसे ही उतरते हैं जैसे वे लिखे गए हैं। भारत में भी फिल्मों का आरंभ सतयुग की कथा राजा हरिश्चन्द्र से हुआ। भारतीय सिनेमा की आरम्भिक प्रवृत्तियाँ देखेंगे तो आप पायेंगे कि उन फिल्मों में आइकनोग्राफी, हमारी कलाधरोहरों से लेने का प्रयास किया गया। अलंकरण, नृत्य, हाव–भाव वातावरण में अजंता–एलोरा के शिल्पों से प्रेरणा ली गयी। काव्य उपमानों में प्रकृति के भाव आरोपण का नायिका के मनोद्वेग चित्रित करने का प्रयास फिल्मों में मिलता है।

नायक को आदर्शों से प्रेरित, धीर, उदात्त गढ़ने की छवि हमारे महाकाव्यों से ली गयी थी लेकिन अस्सी के दशक से नायकों का मुहावरा बुरे लोगों की छवि में बदल दिया गया। धीरे–धीरे नवीनता के नाम पर पाश्चात्य संस्कृति का चित्रण आधुनिकता के नाम पर होने लगा। फिल्मी कला का पैमाना टिकट बिक्री के रिकार्ड पर टिक गया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर अभिनय कला देह भोग की लिप्सा का प्रदर्शन मात्र रह गयी। यहाँ कथा सरित्सागर, पंचतंत्र, रामायण–महाभारत की कमी नहीं थी लेकिन बिना बिल्ला नं. 786 लगाये भारत की कथित धर्मनिरपेक्षता का पता कैसे चलता? केवल भारतीय नाम ढ़ोता हीरो, इस देश का रह गया बाकी वातावरण, कहानियों की कहन, रंग–योजना सब हालीवुड की नकल हो गया। हिंदी बालीवुड इस रोग से अधिक ग्रस्त है जबकि दक्षिण भारतीय फिल्में कई मायने में भारतीय संस्कृति को अपेक्षाकृत गौरवभाव से दिखाती हैं। बहुत संभव है कि इसका कारण फिल्म माध्यम का क्रमिक विकास ही पश्चिमी देशों में होना हो। उपकरण उनके, कथा हमारी। आँखें उनकी, दृश्य हमारे। फिर वास्तविक वस्तुस्थिति की संभावना ही कैसे पैदा हो।

गति, टोनल वैल्यू, सेटिंग्स, आदि उन्होनें अपनी आवश्यकतानुसार विकसित किया जिसमें सिर घुसाकर हम अपनी बात कहना चाहते हैं। ये कैसे संभव है? जहाँ भारतीय संस्कृति–परंपरा, मूल्य–बोध, दिखाई पड़ जाता है वो बाहुबली(2015,2017) बन जाती है वरना छिछली प्यार–व्यार वाली लटकन–झटकन बन के रह जाती है।

यह देश कलाचिंतन की उर्वर भूमि रही है। यहाँ कला की अवधारणा ब्रह्मानंद सहोदर से जुड़ी हुई है। पुरुषार्थ चतुष्टय से होकर कलाओं की विश्रांति आनन्द में विलीन हो जाती है। आचार्य चिंतकों ने कला के प्रथम भोक्ता दर्शकों को माना है अतः जनमन के आनन्द प्राप्ति में कला, कलाकार एवं कला उपकरण माध्यम भर हैं। यहाँ देखनेवाला, रसिकहृदय है, विलक्षण है, वो सर्वोपरि है। सदैव दर्शक के सत् आनन्द की प्रतिष्ठा की जाती है। इसलिए नाट्यपरंपरा में नान्दीपाठ का विधान है, काव्य में मंगलाचरण होता ही है। फिल्मी कला में पैसा लगाने वाला प्रोड्यूसर और निर्देशक होता है जिसे दर्शकों से पैसे भी ऐंठने हैं।

शुल्क लेकर आनन्द कैसे दिया जा सकता है? पैसे खर्च करके सुखानुभूति कैसे पाई जा सकती है जबकि उसी पैसे के लिए हाड़तोड़ मेहनत की गई हो? आधुनिक फिल्में मनोरंजन का दोहन करती हैं, मनःशोधन तो दूर की बात है। कला माध्यम की तकनीक का विचारों पर सूक्ष्मता से असर पड़ता है अतः तकनीकों का प्रयोग भारतीय चिति के निरुपण में हो तभी, इस यंत्राधारित कला का भारतीय रुपक खड़ा होगा। भारतीय विषयों एवं दर्शन की जटिलताओं के फिल्मांकन, चित्रांकन समस्याओं की खोज में स्वतः नई तकनीक विकसित कर सकते हैं।

पहले अपने विषयों के प्रति अध्ययन तो हो कथावस्तु, कहन, और चरित्र निर्मिति स्वयं आकार लेने लगेगी। हम ऐसे मुहावरे, कला उपकरण की कल्पना कर सकते हैं जिसमें औपनिषदिक रोचकता और पौराणिक दिक्काल (टाइम एण्ड स्पेस) को मनोरंजक तरीके से कह सकें।

–लेखक कला–विश्लेषक हैं।

भारतीय लोक को नकारता बॉलीवुड

सूर्य प्रकाश

भारतीय सिनेमा के सौ सालों से ज्यादा के इतिहास में बड़ा हिस्सा ऐसी फिल्मों का रहा है, जो भारत के लोक को ध्यान में रखकर बनाई गईं। पटकथा, संगीत से लेकर संवाद तक में यह खयाल रखा गया कि फिल्में समाज की भाषा में ही समाज के मुद्दे उठाएं। भारत में सिनेमा की शुरुआत ही राजा हरिश्चन्द्र फिल्म से हुई थी, जिसमें सतयुग के सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कहानी का चित्रण था। सत्य और दानवीरता के लिए राजपाट छोड़ने, बेटे को गंवाने और पत्नी से भी श्मशान में कर वसूलने वाले हरिश्चन्द्र का चित्रण ऐसा था कि मूक फिल्म ने सब कुछ कह दिया। फिल्म के निर्माता दादासाहेब फाल्के समूचे बॉलीवुड के ही दादासाहेब कहलाए। इसके बाद भी वीर दुर्गादास, अमर सिंह राठौड़ जैसी फिल्मों का निर्माण किया गया। 17वीं शताब्दी के योद्धा वीर दुर्गादास पर बनी इस फिल्म में एक तरफ लोकश्रुतियों में विद्यमान रहे दुर्गादास की कहानी कही गई तो दूसरी तरफ गीतों में मेवाड़ी बोल भी सुनाई दिया। थाने काजलियो बनालूं गीत मेवाड़ी अंचल के मिठास से परिचय कराता है।

यही नहीं 12वीं सदी के अप्रतिम योद्धा पृथ्वीराज चौहान पर भी 1959 में एक फिल्म बनी थी। ऐसी फिल्मों की एक

वीर दुर्गादास फिल्म का दृश्य चित्र भूगाल हनेज से साभार

चित्र: गूगल इमेज से साभार
दो बीघा जमीन फिल्म का दृश्य

श्रृंखला फिल्मी दुनिया में लंबी चली है, लेकिन हम देखते हैं कि इनमें वह स्टारकास्ट नहीं जुड़ी, जिन्हें फिल्म के चलने की गारंटी माना जाता है। भारतीय सिनेमा का हम बारीकी से अध्ययन करें तो हम देखते हैं कि लगभग 1970 के दशक तक फिल्में ऐसी थीं, जो किसी न किसी स्वरूप में समाज का चित्रण करती थीं और उसी की भाषा में संवाद भी थे। देश गांवों में बसता था तो फिल्में भी गांवों का चित्रण करती थी या फिर गांव और संघर्ष के बीच की कहानी सुनाती थी। ऐसी ही एक बहुचर्चित फिल्म है, दो बीघा जमीन। जिसने अपने दौर में जमीन अधिग्रहण के चलते किसान की परेशानियों को अपने ढंग से उठाया।

फिर समय बीता और फिल्म इंडस्ट्री ने भी तकनीक के नए आयाम अपने साथ जोड़े। फिल्में रंगीन हुई और तकनीक जोरदार होती गई, लेकिन फिल्मों से लोकसंवाद पीछे छूटता गया। सिनेमा के शुरुआती दौर में जहां गांवों पर केंद्रित फिल्में बनती थी, वे अब गांवों में सुधार की बातें करनी लगी। अभिनेता शहरी हो गया और कथित भद्रलोक से आया शख्स गांव में सभ्यता की सीख देने लगा। गांव बुराईयों के केंद्र के तौर पर दिखाए जाने लगे। ठाकुरों की जिद, पंडितों की पोंगापंथी, साहूकारों की प्रताड़ना ही मानो गांव का सच हो गई और शहर से आए हीरो से ही उसका कल्याण था। भले ही यह सच नहीं था और न है, लेकिन फिल्में यही कहती रही और टीवी का सत्य समाज के सत्य से परे हो गया। शायद यही कारण है कि अब फिल्में समाज का आईना नहीं रही बल्कि समाज में किसी गलत हरकत पर यह कहा जाने लगा कि यह फिल्म नहीं है, जो कुछ भी करोगे।

दरअसल भारतीय सिनेमा के आधुनिक दौर का हम बारीकी से अध्ययन करें तो यह एक तरह से मूल परंपरा को नकारने की व्यवस्था रही है।

जिस हॉलीवुड के पीछे भारतीय सिनेमा हमेशा चलने की कोशिश करता रहा है, उसने भी यूनान, मिस्र और रोम जैसी सभ्यताओं का चित्रण अपनी फिल्मों में लोककथाओं के आधार पर ही किया है। बहुचर्चित फिल्म ट्रॉय की ही बात करें तो यह होमर की रचना इलियाड पर आधारित है, जिसमें यूनानी वीर एकलिस की वीरता की गाथाएं हैं। होमर की यह रचना कोई ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है, लेकिन लोककाव्य होने और समाज में उसकी मान्यता के आधार पर फिल्म में उसे जस का तस उतारा गया है। फिल्म की सफलता भी बताती है कि लोककाव्य पर आधारित यह रचना पश्चिमी समाज में कितने गहरे तक पैठ किए हुए है। इसके अलावा 300 मूवी को बनाते हुए भी इतिहास के उन चर्चित तथ्यों का पूरा सम्मान किया गया। भारत में ऐसी फिल्में विरले ही बनती हैं और यदि बनी भीं तो एक अलग तरह के चित्रण के दबाव में बनती हैं।

निर्माता–निर्देशक पर यह दबाव रहता है कि मौजूदा राजनीतिक माहौल में तैयार सेकुलरिज्म की अवधारणा को 10वीं, 12वीं या 17वीं शताब्दी के किसी नायक पर बनी फिल्म से चोट न पहुंचे। या फिर 326 ईसा पूर्व के चाणक्य को दिखाने से कहीं गंगा–जमुनी तहजीब की आभासी अवधारणा न टूट जाए। यहीं यह सवाल है कि आखिर 10वीं शताब्दी या फिर ईसा पूर्व के किसी नायक को जब हम आज की राजनीतिक अवधारणा के बीच फिट करेंगे तो क्या इतिहास से न्याय होगा? उदाहरण के तौर पर हम पद्मावत फिल्म की ही बात करें तो निर्माता–निर्देशक रानी पद्मावती के नाम से दर्शकों को तो सिनेमा हॉल तक खींचना चाहते हैं, लेकिन चरित्र और कहानी के चित्रण की खामियों पर यह कहकर पर्दा डालते हैं कि हमने इतिहास दिखाने के लिए फिल्म नहीं बनाई, यह विशुद्ध मनोरंजन है। इतिहास के तथ्यों से कैसा मनोरंजन? मौजूदा भारतीय सिनेमा का यही चरित्र है, जो उसे समाज की बात को उसकी ही बोली, भाषा और मान्यताओं में कहने नहीं देता।

ऐसा ही भारत की रचनाओं को भी नकारने का स्वभाव भारतीय सिनेमा में दिखता है। ब्रिटिश शासन के दौरान बंगाल और बिहार में प्रशासक के तौर पर काम करने वाले सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने बुंदेलखंड के योद्धाओं आल्हा और ऊदल पर लिखे काव्य आल्हखंड की तुलना होमर के इलियाड से की है। यह वही इलियाड है, जिसके आधार पर ट्रॉय फिल्म बनी और एकलिस और हेक्टर जैसे योद्धाओं की कहानी का चित्रण किया गया। भले ही ग्रियर्सन को आल्ह खंड में संभावनाएं दिखीं, लेकिन भारतीय सिनेमा इसे नहीं स्वीकारता। इसके अलावा राजतरंगिणी, पद्मावत या फिर पृथ्वीराज रासो जैसे अन्य ग्रंथों में भी ऐसी तमाम संभावनाएं मौजूद हैं, जिनके चित्रण के जरिए विश्व स्तरीय सिनेकृतियां प्रदर्शित की जा सकती हैं। यह समाज और सिनेमा के एक–दूसरे के

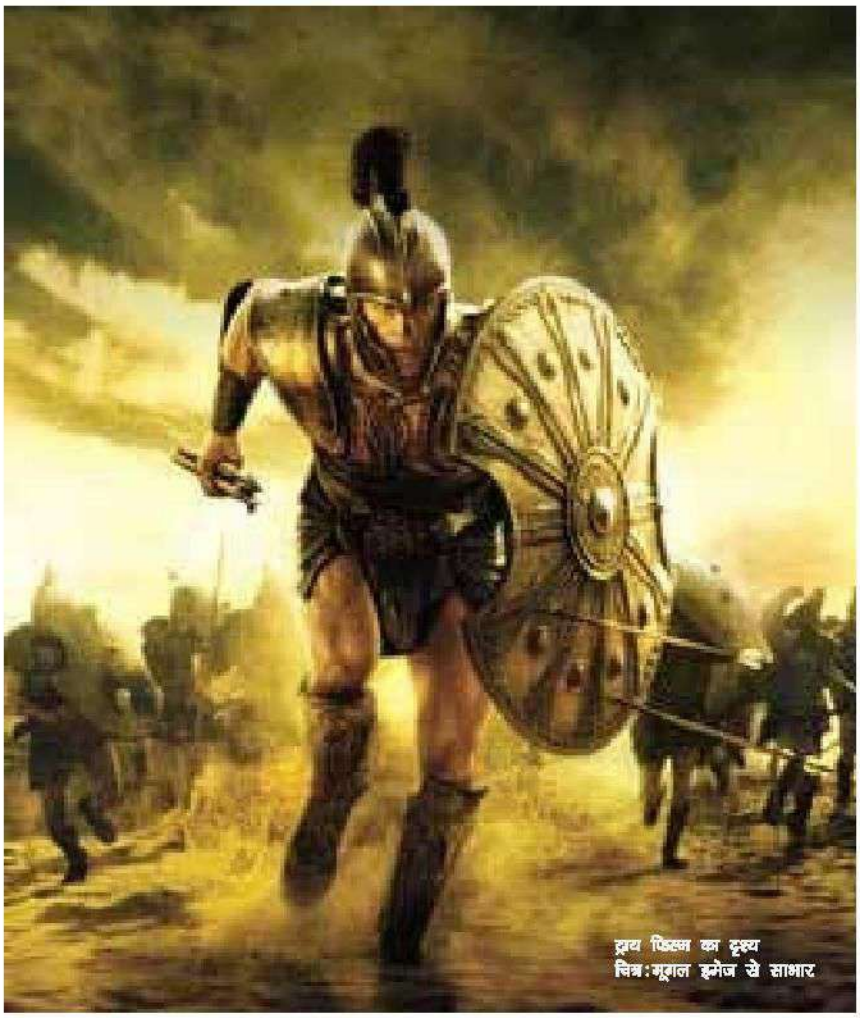

ट्रॉय फिल्म का दृश्य
चित्र: गूगल इमेज से साभार

उलट चलने जैसी स्थिति है। समाज की मान्यताएं सिनेमा स्वीकार नहीं कर रहा है और सिनेमा की कृतियों को समाज खुद से नहीं जोड़ता। ऐसे में सिनेमा समाज का दर्पण कैसे बनेगा? यह शोचनीय विषय है।

क्रेडिट दिए बिना लोकसंगीत की लोकप्रियता को भुनाया भारतीय सिनेमा की एक प्रवृत्ति यह भी दिखती है कि वह अपनी सुविधा के लिए लोकसंगीत का इस्तेमाल तो करता है, लेकिन उसे प्रामाणिकता न मिले, शायद इसलिए क्रेडिट देने से बचता है। सन् 2008 में आई फिल्म ओए लकी, लकी ओए में तू राजा की राजदुलारी, मैं सर्प लंगोटे आला सू गीत को लिया गया है।

जंगम साधुओं का यह गीत हरियाणा, पंजाब समेत उत्तर भारत के बड़े हिस्से में लोकप्रिय हैं। इस

एक गीत को ही सैकड़ों गायकों ने अपने–अपने तरीके से गाया है।

इसकी लोकप्रियता को भुनाते हुए फिल्म में इस गीत को लिया गया है, लेकिन कहीं भी यह क्रेडिट नहीं दिया गया कि आखिर यह कहां से आया और हमने इसे कहां से हासिल किया।

इसी तरह फिल्म मंगल पांडे के गीत मंगल–मंगल की तर्ज आल्हा से ली गई है, लेकिन यह क्रेडिट नहीं दिया गया कि आखिर इसे कहां से लिया गया है।

– लेखक भारतीय लोक–संवाद परम्परा के गहन अध्येता हैं।

ओटीटी प्लेटफार्म

रविन्द्र सिंह भड़वाल

ओटीटी शब्द ओवर–द–टॉप का शॉर्ट फॉर्म है। ओटीटी एक ऐसा प्लेटफॉर्म है जहां फिल्म और टेलीविजन कंटेंट को केबल या सैटेलाइट प्रसारणकर्ता के बजाय इंटरनेट पर प्रसारित किया जाता है। इंटरनेट की सहायता से मिलने वाली इस सेवा से केबल बॉक्स से छुटकारा मिला और अपने हाथ में एक स्मार्ट फोन पर टीवी के तमाम कार्यक्रम देख पाना संभव हो गया। भारत में प्रमुख ओटीटी प्लेटफॉर्म हॉटस्टार, अमेजन प्राइम, नेटफ्लिक्स, वूट, जी5, सोनी लाइव हैं। हाल के कुछ ही वर्षों में भारत में ओटीटी प्लेटफॉर्म्स पर टीवी के साथ ही वेब सीरीज, हास्य कार्यक्रम और फिल्मों की स्ट्रीमिंग काफी लोकप्रिय है।

भारत में ओटीटी सेवा का विस्तार तेजी के साथ हो रहा है। ऐप डिस्ट्रीब्यूशन प्लेटफॉर्म मो–मैजिक द्वारा देश भर में किए गए एक सर्वे में चौंकाने वाले आंकड़े सामने आए हैं। इन आंकड़ों के अनुसार इंटरनेट की पहुंच और तेज गति देश में वीडियो कंटेंट देखने के तरीके को तेजी से बदल रही है। देश में 55 फीसदी लोग टीवी शो, फिल्में, खेल और दूसरे कंटेंट ओटीटी प्लेटफॉर्म जैसे हॉटस्टार, अमेजन प्राइम, नेटफ्लिक्स पर देख रहे हैं। 41 फीसदी लोग कंटेंट देखने के लिए डीटीएच प्लेटफॉर्म जैसे टाटा स्काई, डिश टीवी का इस्तेमाल करते हैं। इस सर्वे के मुताबिक भारत में अभी भी हॉट स्टार सबसे ज्यादा देखा जा रहा है।

एक अन्य रिपोर्ट का आकलन है कि भारत में ओटीटी सेवा का बाजार 2023

चित्र गूगल इमेज से साभार

:

चित्र गूगल इमेज से साभार

तक 3.60 लाख करोड़ रुपए तक पहुंच जाएगा। बोस्टन कंसल्टिंग ग्रुप की रिपोर्ट के अनुसार 2018 तक यह बाजार 35 हजार करोड़ रुपए का था। इंटरनेट की बढ़ती स्पीड और स्मार्टफोन यूजर बढ़ने की वजह से भारत में ओटीटी मार्केट 15 फीसदी की तेज रफ्तार से बढ़ रहा है। 2025 तक इसका वैश्विक मार्केट 17 फीसदी की रफ्तार से बढ़कर 240 लाख करोड़ रुपए तक पहुंच जाएगा।

दरअसल, कोरोना संक्रमण के बढ़ते प्रकोप को रोकने के लिए किए गए लॉकडाउन की वजह से सिनेमा हॉल बंद हैं। इस बीच कई प्रोडक्शन हाउस ओटीटी प्लेटफार्म पर ही अपनी फिल्म रिलीज कर रहे हैं। हाल ही में विद्या बालन स्टारर महत्वाकांक्षी बायोपिक फिल्म शकुंतला देवी, दिल बेचारा या गुलाबो सिताबो जैसी मुख्यधारा की कई फिल्मों को इस मंच से ग्लोबल रिलीज मिल चुकी है। हालांकि इस व्यवस्था में कमाई को लेकर बॉक्स ऑफिस जैसा गणित नहीं है। एक रिपोर्ट की मानें तो अगर कोई फिल्म इन दिनों ओटीटी पर डायरेक्ट रिलीज होती है, तो ओटीटी राइट्स से ही लगभग 80 फीसदी राजस्व मिलता है और सैटेलाइट राइट्स से मुनाफे का 20 फीसदी हिस्सा निकलता है।

ओटीटी प्लेटफॉर्मों पर फिल्मों की कमाई का गणित सीधा होता है। रिलीज या स्ट्रीमिंग के लिए ओटीटी को फिल्मों के अधिकार खरीदने होते हैं। अधिकारों के लिए निर्माता को एक रकम मिलती

हाल ही में विद्या बालन स्टारर महत्वाकांक्षी बायोपिक फिल्म शकुंतला देवी, दिल बेचारा या गुलाबो सिताबो जैसी मुख्यधारा की कई फिल्मों को इस मंच से ग्लोबल रिलीज मिल चुकी है।

है। यह डील एक ही फिल्म के अलग–अलग भाषाओं के वर्जन के लिए अलग–अलग होती है यानी हर वर्जन के राइट्स की डील अलग से होती है। दूसरी तरफ, कुछ फिल्मों का निर्माण ओटीटी प्लेटफॉर्म करवाते हैं। यानी खास तौर पर किसी फिल्म के लिए ओटीटी प्लेटफॉर्म कोई डील करता है। जैसे एचबीओ एक ओटीटी प्लेटफॉर्म है, जो खास तौर पर फिल्में अपने प्लेटफॉर्म के लिए बनवाने के बिजनेस में है। इस डील में होता यह है कि प्लेटफॉर्म एक तयशुदा रकम फिल्म निर्माताओं को देता है और निर्माता उससे कम रकम में फिल्म बनाते हैं। इसमें बची हुई रकम उनका लाभ होता है।

ओटीटी प्लेटफॉर्म पर कमाई के मुख्यतः तीन तरीके प्रचलित हैं। ओटीटी का हर यूजर किसी भी कंटेंट को जब डाउनलोड करता है, तो उसके लिए एक शुल्क अदा करता है। दूसरा तरीका है सब्सक्रिप्शन। कोई भी यूजर हर महीने या एक समय सीमा के लिए एक रकम चुकाता है और उस प्लेटफॉर्म का तमाम कंटेंट देख सकता है। तीसरा तरीका है कंटेंट देखने का कोई चार्ज नहीं है, लेकिन कंटेंट के बीच बीच में यूजर को विज्ञापन देखने होते हैं। जैसे यूट्यूब फ्री है, लेकिन वीडियो के बीच में ऐड देखने होंगे। इन विज्ञापनों के जरिये ओटीटी की कमाई होती है। कुल मिलाकर ओटीटी पर बिजनेस का मॉडल बहुत साधारण है। पहले प्लेटफॉर्म अपने कंटेंट को बनाने या खरीदने में पैसा खर्च करता है और उसके बाद दर्शकों या यूजरों से एक चार्ज लेकर वो कंटेंट बेचा जाता है।

पिछले समय के अनुभवों को सामने रखें तो ओटीटी प्लेटफॉर्म सिनेमाघरों के विकल्प के तौर पर उभरा है। हालांकि इसके अपने फायदे और नुकसान हैं।

मशहूर फिल्मकार श्याम बेनेगल के शब्दों में सिनेमा जो लार्जर दैन लाइफ अनुभव देता है वो टीवी या छोटी स्क्रीन पर पूरी तरह नहीं मिलता। सिनेमाघर में फिल्म देखना एक सामाजिक उत्सव और सामूहिक अनुभव होता है। फिल्में कई माध्यमों से देखी जा सकती हैं, सबकी अपनी अहमियत है।

हालांकि ओटीटी प्लेटफॉर्म का अब तक का छोटा सा सफर ही कई बार विवादों में आ चुका है। इसका सबसे बड़ा कारण है कि अब तक इस पर नियंत्रण को लेकर कोई भी नियामक संस्था नहीं बनाई जा सकी है। इस तरह की निगरानी के अभाव में कंटेट निर्माता बार–बार गरिमापूर्ण अभिव्यक्ति की लक्षमण रेखा लांघते रहे हैं। कुछ समय पूर्व अश्लील वेब सीरीज के जरिये हिंदू देवी–देवताओं और भारतीय सेना के अपमान को लेकर प्रोड्यूसर और डायरेक्टर एकता कपूर की गिरफ्तारी को लेकर मध्य प्रदेश हाई कोर्ट की इंदौर खंडपीठ में सुनवाई चली थी। इस दौरान कोर्ट ने सूचना एवं प्रसारण विभाग को पक्षकार बनाने का आदेश देते हुए केंद्र शासन से पूछा कि ओटीटी प्लेटफॉर्म के जरिये दिखाई जाने वाले वेब सीरीज को लेकर क्या प्रावधान है? इसे नियंत्रित कौन करता है? जिस तरह से फिल्मों को नियंत्रित करने के लिए सेंसर बोर्ड है, वैसी कोई व्यवस्था वेब सीरीज को लेकर है क्या? शिकायतकर्ता वाल्मीकि सकरगाए ने पांच जून को इंदौर के अन्नपूर्णा थाने में एकता कपूर के खिलाफ शिकायत दर्ज कराई थी कि उनकी कंपनी ऑल्ट बालाजी सोशल मीडिया पर ट्रिपल एक्स वेब सीरीज चलाती है। वेब सीरीज में हिंदू देवी–देवताओं और भारतीय सेना का अपमान किया गया है। वेब सीरीज के जरिये अश्लीलता परोसी जा रही है। एपिसोड में दिखाया गया था कि पुरुष पात्र भारतीय सेना की वर्दी पहना होता है। एक महिला पात्र उसकी वर्दी फाड़ती है। इस अपमान से आहत होकर शिकायत दर्ज कराई थी।

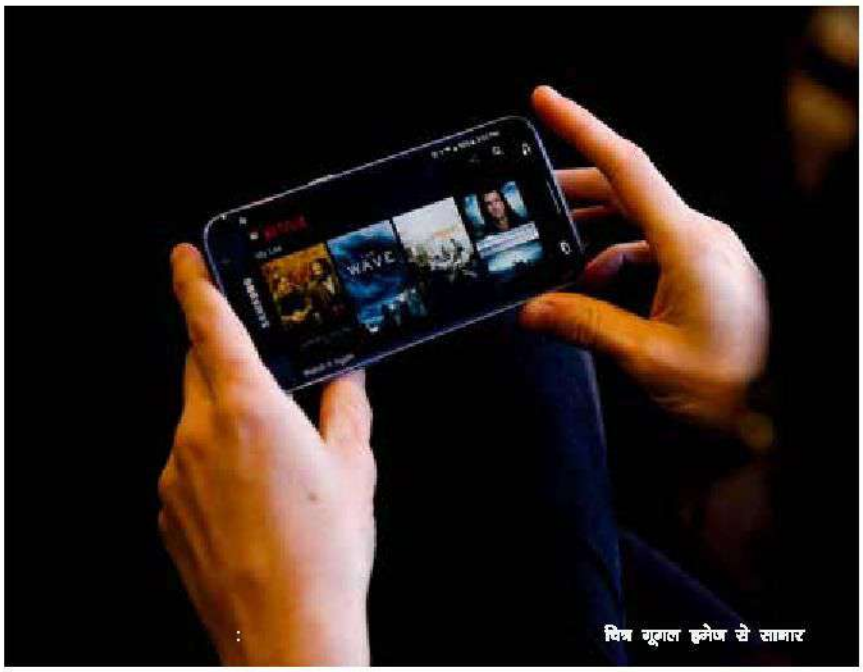

चित्र गूगल इमेज से साभार

ओटीटी प्लेटफॉर्म इसलिए भी चर्चा में रहा है क्योंकि इसके जरिए गाली–गलौज, कामुकता और हिंसा को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसके बावजूद दर्शक इन्हें देखने का लोभ नहीं छोड़ पाते, जिसकी वजह से क्राइम सीरीज जमकर लोकप्रिय होती हैं।

ओटीटी प्लेटफॉर्म पर कई ऐसी नकारात्मक वेब सीरीज उपलब्ध हैं, जिन्होंने दर्शकों के बीच खूब लोकप्रियता हासिल की, लेकिन इसके साथ–साथ समाज को गलत दिशा में बढ़ाने का काम भी किया है। डिज्नी प्लस हॉटस्टार की आर्या, अमेजन प्राइम की ब्रीद इनटू दि शैडोज, पाताललोक, मिर्जापुर और नेटफ्लिक्स की सेक्रेड गेम्स ऐसी ही कुछ वेब सीरीज हैं।

इस समय ओटीटी प्लेटफॉर्म आईटी मंत्रालय के तहत आता है। मंत्रालय के एक शीर्ष अधिकारी ने यह जानकारी दी है कि भारत सरकार का सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय ओवर द टॉप (ओटीटी) प्लेटफार्म पर दिखाए जाने वाले कंटेंट को अपने दायरे में लाना चाहता है। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के सचिव अमित खरे ने कहा, कि ओटीटी एक डिजिटल प्लेटफॉर्म है जो अभी अपनी प्रकृति के हिसाब से आईटी मंत्रालय के तहत आता है। इस प्लेटफार्म पर वेब सीरीज, सीरियल जैसे कंटेंट दिखाए जाते हैं, इसलिए इसे सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के तहत आना चाहिए। भारत में अभी तक ओटीटी प्लेटफॉर्म के लिए कोई नियामक नहीं है।

प्रिंट, रेडियो, टीवी, फिल्म और ओटीटी इन पांच अलग मीडिया में से चार के लिए नियामक है, जबकि एक अभी खुले रूप से कारोबार कर रहा है। इस समय अगर ओटीटी प्लेटफॉर्म पर कोई फिल्म रिलीज होती है तो वह सेंट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सर्टिफिकेशन के तहत नहीं आती है।

ओटीटी प्लेटफॉर्म बाजार में लगातार अपनी स्थिति को मजबूत करता जा रहा है। भविष्य में इसके विकास की संभावनाएं और भी प्रबल हैं। ऐसे में इस प्लेटफॉर्म को बिना किसी निगरानी के खुला नहीं छोड़ा जा सकता। लिहाजा यदि एक उचित नियामक संस्था की निगरानी में इस सेवा को विस्तार मिले तो सूचना तंत्र की पहुंच, गति एवं सुविधा को बढ़ावा देने में यह प्लेटफॉर्म मददगार साबित हो सकता है।

– लेखक मीडिया शोधार्थी हैं।

हॉलीवुड का सांस्कृतिक-मायालोक

अवतार पिक्चर का ट्रेलर
चित्र गूगल इमेज से साभार

जयेश मटियाल

भारत की सांस्कृतिक धरोहर कैलाश मन्दिर पर हाल ही में अमेरिका के हिस्ट्री चैनल ने एक एपिसोड बनाया था। पूरे एपिसोड में वे हैरत में थे कि किसी मनुष्य द्वारा ऐसी कारीगरी कैसे संभव है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। एपिसोड में बताया गया कि भारत में चमत्कारी मशीनें हुआ करती थी, जिन्होंने इसे बनाया। भारतीय वास्तुकला और वैदिक विज्ञान को श्रेय देने की बजाय, स्वयं की संतुष्टि के लिए डायरेक्टर्स ने एलोरा की गुफाओं को एलियन की कारीगरी करार दे दिया। यह पहली बार नहीं है जब अमेरिका भारत के खिलाफ इस तरह का मिथक गढ़ रहा हो। हिस्ट्री चैनल की "एनसेन्ट एलियन" नामक टेलीविजन सीरीज में भारत की प्राचीन धरोहरों को लेकर कई एपिसोड हैं, जो यह साबित करने में लगे हैं कि यह सब एलियन्स का करा–धरा है।

अमेरिका पोषित फिल्में,

चित्र गूगल इमेज से साभार

चीन के बाद भारत अमेरिकी फिल्म और मनोरंजन उद्योग के लिए दूसरा सबसे बड़ा बाजार बना है। आंकड़ों के अनुसार पिछले साल हॉलीवुड फिल्मों ने भारत में तकरीबन 1220 करोड़ रुपए से अधिक की कमाई की है जो हॉलीवुड की भारत में अब तक की सबसे ज्यादा कमाई है। भारत में हॉलीवुड फिल्मों के प्रभाव को बढाने के लिए हॉलीवुड स्टूडियोज अपनी फिल्मों का हिन्दी भाषा समेत अन्य भारतीय भाषाओं में डबिंग के लिए, मार्केटिंग के लिए व्यापक स्तर पर पैसा खर्च कर रहे हैं। इसका हालिया उदाहरण स्पाइडर मैन होमकमिंग फिल्म है, जो हिन्दी समेत अन्य नौ भारतीय भाषाओं में डब की गई थी।

हॉलीवुड किस तरह भारत को निशाने पर रखकर फिल्में बनाता है इसका एक उदाहरण बहुचर्चित हॉलीवुड फिल्म अवतार है। अवतार जो कि भारतीय अवधारणा है, उसे एलियन्स से जोड़ा गया है। अमेरिका भारत के चित्रण के प्रति बहुत असंवेदनशील रहा है।

टेलीविजन–एपिसोड, वेब–सीरीज, अन्य जगहों की सांस्कृतिक विरासतों को लेकर अपने हितानुसार नए आख्यान गढ़ रहे हैं और पश्चिमी संस्कृति को, सोच को, पहनावे को अन्य देशों समेत भारत पर भी थोपने का काम कर रही हैं। यह जिम्मा खासतौर पर हॉलीवुड के कंधे पर है। हॉलीवुड अमेरिकी विचारों को प्रेषित करने का सॉफ्ट टूल है, इस प्रक्रिया को हॉलीवुडाइजेशन कहा जाता है। जिसमें हॉलीवुड सम्पूर्ण एशिया में फिल्म उद्योग को प्रभावित करता है ताकि प्रोडक्शन शैली, ड्रेसिंग, यहां तक कि हॉलीवुड के नाम की नकल कर सके। भारतीय सिनेमा का हॉलीवुड चलन इसी प्रक्रिया का एक हिस्सा है। यही वुड भारतीय मूल्यों, सिद्धांतो को ताक पर रखकर भारतीय फिल्मों को पश्चिमी संस्कृति के सांचे में ढालने में सफल भी हो रहा है।

पिछले कुछ सालों से भारत में हॉलीवुड फिल्मों का दब–दबा बढ़ा है।

स्लम डाग मिलेनियर फिल्म का दृश्य
चित्र गूगल इमेज से साभार

लाइफ आफ पाई फिल्म का दृश्य
चित्र गूगल इमेज से साभार

हॉलीवुड और अमेरिकन टीवी शो में भारत को गरीब, पिछड़ा, सपेरों की भूमि के रूप में दिखाता है।

द 100 फुट जर्नी, स्लमडॉग मिलियनेयर, लाइफ ऑफ पाई और द मिस्ट्रेस ऑफ स्पाइसेस जैसी लोकप्रिय हॉलीवुड फिल्में भारत को नकारात्मक रूप में दिखाती है। इन फिल्मों में भारतीय पात्रों को गरीब और रहस्यमयी रूप में दिखाया गया है। इंडियाना जोन्स में एक भारतीय पात्र को इतना नकारात्मक रूप से दिखाया गया कि भारत सरकार को इसकी शूटिंग पर प्रतिबंध लगाना पड़ा।

हॉलीवुड ने न केवल पश्चिमी संस्कृति बल्कि आर्थिकी थोपने का भी काम किया है। हॉलीवुड स्टूडियो, फिल्म–टीवी, और वेबसीरीज के रूप में विभिन्न देशों के विभिन्न बाजारों में स्थानीय मनोरंजन के एक बड़े हिस्से पर कब्जा जमाने के लिए, अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने के लिए प्रयासरत रहते हैं। उदाहरणस्वरूप भारत में नेटफ्लिक्स और अमेजन प्राइम जैसे ओटीटी प्लेटफॉर्म का दबदबा होना। और फिर यही ओटीटी प्लेटफॉर्म अपराध और अश्लीलता से भरी भारत विरोधी, सनातन संस्कृति विरोधी लैला जैसी वेबसीरीज को बढ़ावा देती है।

बॉलीवुड की अधिकांश फिल्में भारतीय मूल्यों और संस्कृति को हॉलीवुड की तर्ज पर ताक पर रखती है। शुरूआती दौर में जो फिल्में भारत की संस्कृति, समाज, परिवार, देश का प्रतिबिंब हुआ करती थी, वही फिल्में आज भारत को लीलने में लगी हैं।

पुराने दौर की फिल्मों में जहां प्रेम में पवित्रता झलकती थी, हॉलीवुडाइजेशन के परिणामस्वरूप आज प्रोग्रेसिव के नाम पर प्रेम में अश्लीलता दिखाई पड़ती है।

आधुनिकता के नाम पर हॉलीवुड, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का परिचायक है। जो भारतीय संस्कृति को विकृत करने में लगा है। भारतीय मूल्यों में पश्चिमी विचारधारा, राजनीतिक मान्यताएं, पश्चिमी विज्ञान, पश्चिमी नैतिक अवधारणाएं, प्रतीक और आदर्श, पश्चिमी कामकाज के तरीके, पश्चिमी खान–पान, पश्चिमी गीत–नृत्य, मानव अस्तित्व की पश्चिमी अवधारणा की घुसपैठ में अमेरिकी फिल्मों का बड़ा योगदान है।

उदाहरण के तौर पर हॉलीवुड फिल्मों को देख–देखकर हमारा खान–पान भी अमेरिकी हो गया है। बात फिर बिहार के लिट्टी–चोखा की हो, उत्तराखण्ड के कोदे की रोटी, या कलकत्ता के रसगुल्ले की, सब पर मैक्डोनल्डस, केएफसी और पिज्जा जैसे ग्लोबल ब्रांड ही हावी हैं।

हॉलीवुड फिल्में देखकर लोग अमेरिका को एक आदर्श समाज के रूप में देखने लगे हैं, जहां अच्छाई हमेशा बुराई पर हावी रहती है। जबकि सच्चाई यही है कि हॉलीवुड एक ही विचारधारा को स्थापित करने में लगा है। विविधताओं को खत्म कर एक ही जीवनशैली बनाने में लगा है। अमेरिकी संस्कृति को वैश्विक संस्कृति बनाने में लगा हुआ है, गैर–अमेरिकियों का अमेरिकीकरण करने में लगा हुआ है। जिसमें हॉलीवुड काफी हद तक सफल भी रहा है।

–लेखक युवा पत्रकार हैं।

मायानगरी के अंधेर में आउटसाइडर्स का एनकाउंटर

दीपक शांडिल्य

मुझे यहां सब कुछ चांदी की प्लेट में सजा हुआ मिला, मगर सबके साथ ऐसा नहीं है.. परवीन मेरी डार्लिंग है, उसे जबर्दस्त शोषण से गुजरना पड़ा। भावुक हेमा मालिनी ने ये बातें तब कही जब परवीन बॉबी अचानक देश छोड़कर चली गई थीं। ये वही वक्त था जब परवीन बॉबी का करियर चरम पर था और फ्लॉप स्ट्रगलर महेश भट्ट को डेट भी कर रही थीं। यूं समझ लीजिए कि परवीन बॉबी सिनेमाई पर्दे के साथ निजी जिंदगी में भी वो सबकुछ कर रही थीं, जो अपनी चाहत, आधुनिकता और आत्मनिर्भरता के नाम पर महिलाएं आज करना चाहती हैं। परवीन बॉबी के साथ अपने रिश्तों पर ही महेश भट्ट ने अर्थ फिल्म बनाई थी। इस फिल्म से महेश भट्ट का करियर परवान चढ़ा तो वहीं परवीन बॉबी ऐसी स्थिति में पहुंच गईं जहां से उनका मानसिक संतुलन डगमगाने लगा था। कहते हैं, महेश भट्ट ने परवीन बॉबी के दिमाग को इस कदर हाइजैक कर लिया था कि वो जो चाहते थे परवीन बॉबी वही कर रही थीं। फिर वो आध्यात्मिक गुरु यूजी कृष्णमूर्ति के शरण में जाने की बात हो या फिर उनके कहने पर बॉलीवुड छोड़ देने का फैसला हो, परवीन बॉबी ने सबकुछ महेश भट्ट के कहने पर किया। लेकिन महेश भट्ट लगातार यह स्थापित करने में जुटे थे कि परवीन बॉबी को मानसिक बीमारी है। महेश भट्ट ने अपने कई इंटरव्यू में इस बीमारी को पैरानायड

परवीन बाबी

सुशांत सिंह राजपूत

स्किट्जोफ्रेनिया नाम बताया है। हालांकि परवीन बॉबी ने खुद को कभी इस बीमारी की चपेट में नहीं बताया। उन्होंने ये जरूर माना था कि आनुवांशिक मानसिक बीमारी ने उन्हें चपेट में ले लिया था।

बीमारी के शुरुआती दिनों में परवीन बॉबी ने अपने अकेलेपन और हिंदी सिनेमा आउटसाइडर के मुद्दे पर खुलकर बात की थी। परवीन बॉबी ने द इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया में अपना एक संस्मरण लिखा था– मैं ये जान गई हूं कि यहां बने रहने का अपना संघर्ष है, इसके अपने दबाव और चुनौतियां हैं। मैं इसमें इतनी धंस चुकी हूं कि मुझे अब इसे झेलना ही होगा। अपनी बीमारी के दौरान ही उन्होंने अमिताभ बच्चन से जान को खतरा बताया था, लेकिन तब इसे पागलपन कहा गया। ठीक वैसे ही, जैसे आज के वक्त में कंगना रनौत को कहा जाता है। एक दिन ऐसा भी आया जब परवीन बॉबी के मरने की खबर आई। परवीन का फ्लैट कई दिन से बंद था। कई दिनों तक उनके घर के बाहर से अखबार और दूध के पैकेट किसी ने नहीं हटाए तो पुलिस ने दरवाजा तोड़ लाश निकाली।

मायानगरी में वही सबकुछ आज भी हो रहा है। परवीन बॉबी हो या सुशांत सिंह, बॉलीवुड में आउटसाइडर को गैंग ने अपने तरीके से निपटाया है। वहीं, कुछ आउटसाइडर ऐसे भी हुए हैं जो खामोशी से इस तमाशा को देखते आ रहे हैं या कुछ बोलने की हिम्मत नहीं जुटा पाते हैं। विद्युत जामवाल, दीपक डोबरियाल, सोनू सूद, आशुतोष राणा, ग्रेसी सिंह, तनुश्री दत्ता, भूमिका चावला, प्राची देसाई, मधु शाह, महिमा चौधरी, नीतू चंद्रा ये कुछ ऐसे नाम हैं जो यकीनन अपनी शुरुआती फिल्मों में ही अभिनय की छाप छोड़ दी थी लेकिन अब दरकिनार कर दिए गए हैं। लॉकडाउन में प्रवासी मजदूरों के सुपरहीरो बनकर उभरे सोनू सूद ने हाल ही में दिए अपने एक इंटरव्यू में यहां तक कह दिया कि स्टील की नसें हों तभी इस मायानगरी में एंट्री करें। जाहिर है, सोनू सूद को इस बात का अंदाजा है कि आउटसाइडर को सिनेमाई जगत में किन चुनौतियों से गुजरना पड़ता है। जिन्हें कुछ मौके मिलते भी हैं तो वो एहसान की कैटेगरी में आ जाता है।

यूं समझ लीजिए कि इस मायानगरी में वही आउटसाइडर टिक सका है जो गैंग्स के आगे नतमस्तक हो चुका है। कंगना रनौत की भाषा में कहें तो चापलूस आउटसाइडर! ये वही आउटसाइडर हैं जो बॉलीवुड गैंग के आगे पीछे मंडराते हैं और उन्हें खुशामद करने में लगे रहते है। इसका फायदा उन्हें फिल्मों में जगह पाकर मिलता है।

– लेखक फिल्म समीक्षक और फिल्म–इतिहास के जानकार हैं।

इतिहास और वर्तमान के भ्रमों की यात्रा है...

सार्थ

त्रिवेणी प्रसाद तिवारी

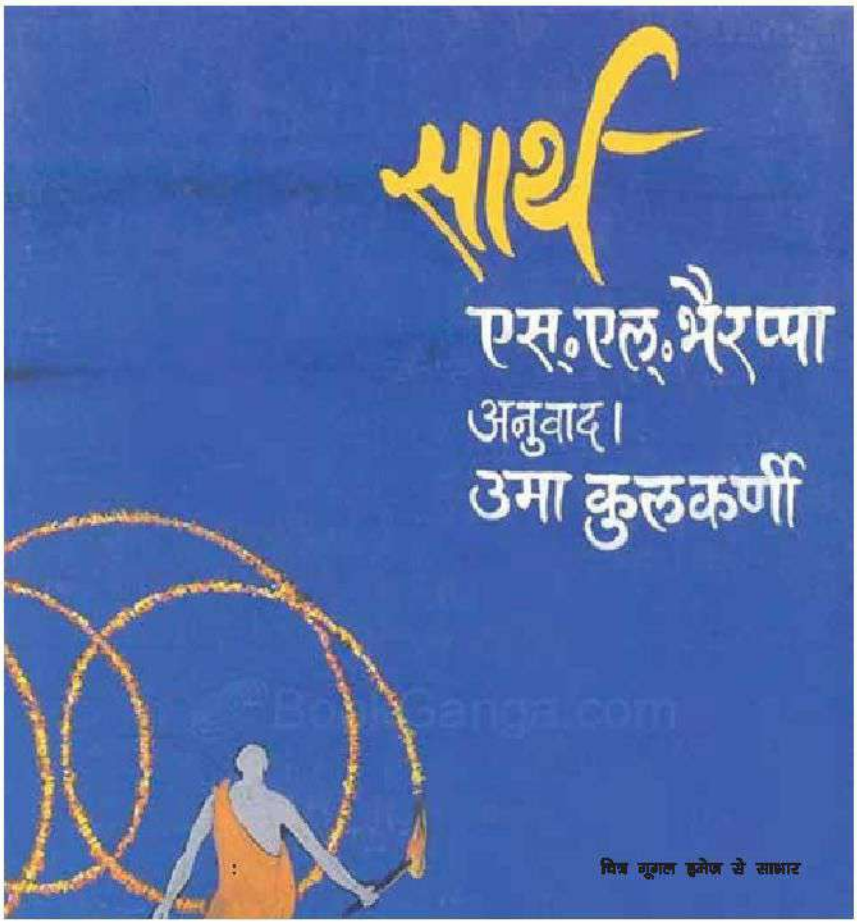

सार्थ एस. एल. भैरप्पा का कन्नड़ भाषा में रचित सुप्रसिद्ध उपन्यास है। भारत के मध्यकालीन सामाजिक ऊहापोह, विचलन, विभिन्न मत–मतान्तरों का यथार्थ चित्रण है। उपन्यास का कालखण्ड सातवीं–आठवीं शताब्दी का भारत है। उस समय वैदिक धर्म का प्रभाव और उसका अनुपालन सीमित, संशयग्रस्त हो चला था। बौद्ध मत को राजकीय संरक्षण में प्रमुख मान्यता मिल रही थी। वृहत्तर भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत सिंध की ओर से अरबों ने तलवार, हिंसा के बल पर इस्लाम को फैलाना शुरु कर दिया था। निराशा का वातावरण फैलने लगा था।

नैराश्य की इससे बड़ी पराकाष्ठा और क्या हो सकती है कि पाठक को उपन्यास के पहले ही पृष्ठ पर यह पता चले कि वह नायक जिससे पाठक का अभी परिचय नहीं हुआ हो, उसकी पत्नी उसे छोड़कर किसी राजा से सम्बन्ध बना लेती है और उस अनुचित सम्बन्ध से एक पुत्र भी हो जाता है। विषाद, सामाजिक बहिष्कार, अपयश, कुल की बदनामी को सोचती नायक की माँ की मृत्यु हो चुकी हो और दूर कहीं नायक को मृत्यु का समाचार मिले। पाठक किस प्रकार उस नागभट्ट में अपने नायक को देखेगा? लगभग उपन्यास के अंत तक बदले की भावना से ग्रस्त और प्रेम से वंचित नायक नागभट्ट वासना में फिसलता, मोह में गिरता–पड़ता, अवगुंठन में जीता आगे बढ़ता है। बौद्ध मत, वामाचार, योग के रास्ते पकड़ता–छोड़ता भगवान कृष्ण के जीवन चरित को अभिनीत करके पुनः स्वधर्म की और लौटता है। इसका कथानक प्रथम पुरुष में है। नायक की आँखों से कहानी घटित होती है। मध्यकालीन भारत की स्थिति का सूक्ष्म चित्रण मिलता है सार्थ में। बौद्ध मत के प्रचार–प्रसार,उसके ऐश्वर्य के सामने वैदिक धर्म किस प्रकार अपनी निष्ठा और नियम खोता जा रहा है? उस समय का नालंदा विश्वविद्यालय भी बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा, उसके उन्नयन के लिए ही प्रतिबद्ध था। फिर भी समाज में वेद, उपनिषद, राम–कृष्ण आदि के चरित्र इतने गहरे थे कि सनातन का उच्छेदन आसान नहीं था।

बहुत बारीकी से भैरप्पा जी ने उपन्यास के माध्यम से यह भी बताया कि किस प्रकार श्आचार्य वज्रपादश जैसे बौद्ध गुरु ने आम जनता पर प्रभाव डालने के लिए वैदिक–पौराणिक चरित्र के गठन, मुद्राएँ, देवप्रतिमा विज्ञान के लक्षणों को बोधिसत्व की प्रतिकृति के साथ जोड़कर, बलपूर्वक चित्रण करवाया, जोकि आज भी हमें स्पष्ट दिखाई देता है जैसे भगवान विष्णु के सदृश अवलोकितेश्वर, शिव के सदृश मंजुश्री और दुर्गा के सदृश तारा का विग्रह निर्माण।

लगभग तीन सौ पृष्ठों तक फैली यह कृति जीवन के सभी पक्षों को छूती है। नागभट्ट और नटी चन्द्रिका के बीच प्रेम की धारा कथा को सरस बनाती है। नागभट्ट प्रेम करके भी हठ से चन्द्रिका को पाना चाहता है दूसरी ओर चन्द्रिका, जो संगीत की साधिका है, जो अपने जीवन में कितनी ही विसंगतियों, वासनाओं के खड्ड से निकलकर ध्यान मार्ग पर चल पड़ी है, केवल शुद्ध, सात्विक प्रेम करना चाहती है नागभट्ट से, दाम्पत्य जीवन नहीं। वह गणिका नहीं है। सार्थ के चन्द्रिका से बहुत कुछ समानता मिलती है आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा की निपुणिका (निउनिया)से। निपुणिका भी अपने प्रणय की बात कभी भी बाणभट्ट से प्रत्यक्ष नहीं कहती। बाणभट्ट(सूत्रधार की भूमिका में) के प्रथम नाटक मंचन से ही बाण के प्रति प्रेम लिए, तमाम अवरोधों के बाद बाण के नाटक में प्रेम दग्ध ह्रदया का अभिनय करते हुए सचमुच मंच पर ही अपनी आहुति दे देती है। वहीं सार्थ की नायिका अपने नागभट्ट को पतन से उठाने के लिए निषिद्ध तंत्राचार की योनि पूजा को भी स्वीकार करती है। उसका त्याग बहुत बड़ा है। राष्ट्र को जगाने के लिए अरब म्लेच्छों के कब्जे वाले पश्चिमोत्तर भाग मूलस्थान में नागभट्ट–चन्द्रिका दोनों नाटक खेलते हैं। दोनों पकड़ लिये जाते हैं। उन पर अत्याचार होता है। उससारा म्लेच्छों द्वारा पाशविक व्यवहार, बलात्कार और उस पिशाचवृत्ति का बीज न चाहते हुए अपने गर्भ में धारण करती है। नागभट्ट भी उसकी पवित्रता को स्वीकारता है क्योंकि वह स्वयं वासना मुक्त हो भारती देवी के एक वाक्य में उसे बोध होता है–गृहस्थाश्रम और वैवाहिक जीवन एक व्रत है। भावना को व्रत के नियम के अनुकूल ढ़ालना उत्तम व्रत ही नहीं बल्कि यह कर्म मार्ग का मूल तत्व है।

इसमें ऐतिहासिक चरित्र आदि गुरू शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, मंडन मिश्र और उनकी पत्नी भारती देवी भी हैं। हालाँकि आज भी कतिपय विद्वान शंकराचार्य का समय ईसा पूर्व लगभग दूसरी शती मानते हैं परन्तु उपन्यासकार ने इनका समय आठवीं शती मानकर रचना की है। मंडन मिश्र–भारती देवी और शंकराचार्य का शास्त्रार्थ कहीं भी बोझिल नहीं करता बल्कि तत्कालीन समय के विश्रृंखल समाज और देशकाल, गृहस्थ और सन्यास को एक सुनिश्चित दिशा देते हुए ज्ञानमार्ग की प्रतिस्थापना होती है। आगे देश को बहुत कुछ सहना था, मंदिर, स्थापत्य, वैदिक, बौद्ध आदि सब पर म्लेच्छों का प्रहार होना था। बचाने लायक केवल सात्विक गृहस्थ धर्म ही था शायद इसीलिए भैरप्पा जी ने गृहस्थ होने और वीर्यवान संतति को जन्म देने के महागुरू के आशीर्वाद के साथ ही अपनी लेखनी को रोक दिया।

नारी चरित्र की दृष्टि से इस कृति में दो प्रमुख पात्र हैं, प्रथम भैरप्पा जी की सृजित चन्द्रिका और दूसरी ऐतिहासिक चरित्र भारती देवी। चन्द्रिका पूरे उपन्यास में कला आराधिका होते हुए, योग को साधते हुए प्रेम को सात्विक भाव में पाने का प्रयत्न करती है। विकट परिस्थितियों में शीलभंग होने के बाद भी ध्यानयोग से स्वयं को परिशुद्ध कर अद्भुत् धैर्य रख कर भविष्य गृहस्थयोग की ओर उन्मुख होती है जिसमें नायक नागभट्ट की भी प्रत्याशा होती है। तथाकथित प्रगतिशीलता के चलताऊ पुरुष अहंकार से दूर स्वीकार्य भाव सृजित कर लेखक नायकत्व को स्थापित करता है। दूसरी ओर भारती देवी अपने ज्ञान–कौशल से प्रखर शंकराचार्य को भी शास्त्रार्थ में अतिरिक्त समय माँगने पर विवश कर देती है। थोड़े ही पन्नों पर भारती देवी का चरित्र आया है परन्तु उनका संवाद न केवल उस समय बल्कि आज भी प्रेम और परिवार की मर्यादा और कर्तव्य को पुर्नस्थापित करता है।

नायक निर्बन्ध, उद्दाम, शारीरिक आकर्षण को प्रेम का उद्गम लक्ष्य करके, बार–बार प्रश्न पूछ कर मानो आज के युवाओं को समाधान देता है।

मंडन मिश्र के शास्त्रार्थ में हारने के बाद, सन्यास लेने के निर्णय पर बिना विचलित हुए निष्ठापूर्वक गृहस्थधर्म के पालन की प्रतिबद्धता, उनका त्याग सन्यास से कहीं ऊँचा सिद्ध कर देती हैं। उनसे प्रेरणा लेकर ही नायक गृहस्थ की महत्ता को समझता हुआ चन्द्रिका के साथ भविष्य खोजता है।

तत्कालीन भारत की अनेक समस्याओं से जूझते निराश समय की परिणति लेखक दो तरह से करता है। सैद्धांतिक स्तर पर शंकराचार्य के ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा द्वारा सनातन की प्रतिष्ठा और कर्ममार्गी भारती देवी की सात्विक गृहस्थ व्रत द्वारा परिवार की प्रतिष्ठा। मानों लेखक स्वयं नागभट्ट के रुप में विसंगतियों के बीच रास्ता खोजने निकला है तभी तो सारी कथा नायकमुख द्वारा आगे बढ़ती है। कथानक घटना दर घटना इस तरह आगे बढ़ती है कि आप इसे पूरा कर ही चौन लेते हैं।

तत्कालीन मध्ययुग की लड़ाईयों और धर्मभीरुता की वृत्ति के चलते किस तरह से भारत को भविष्य में इस्लामिक आक्रमण से आक्रांत होना है, इसका स्पष्ट चित्रण सार्थ में मिलता है।

प्रतिहार सैनिक मजबूत एवं संख्या में भी अधिक होने के बावजूद मूलस्थान को अरब आक्रांता से छुड़ाने के लिए मात्र इसलिए नहीं लड़ते कि म्लेच्छों ने यह बात फैला दी थी कि यदि प्रतिहार सेना आक्रमण करती है तो मार्तण्ड मंदिर नष्ट कर दिया जायेगा। कहीं मेरे कारण मंदिर न टूट जाए.. यह सोच कर बिना अन्य कोई रणनीति बनाये जीता हुआ मोर्चा छोड़कर दूसरी ओर चली जाती है। इस तरह कितनी ही लड़ाईयाँ भारत हारा है इतिहास में।

सार्थ, धर्म, प्रेम और परिवार की कहानी है जिसमें नायक प्रेम को शरीर में खोजते हुए, धर्मच्युत होकर देशकाल के संकीर्ण धार्मिक व्यामोह में फँसता हुआ, आसमानी किताबों के रहनुमाओं के घृणित अमानवीय अत्याचारों से निकलकर पुनः सदगृहस्थ की ओर बढ़कर सनातन मूल्यों की प्राप्ति करता है।

ग्राफिक्स : राजीव पांडेय

www.samvadsetu.com